वामपंथी बड़बड़ियों की गड़बड़ियां

कहावत है, 'अति बुरी होती है'। लोक जीवन में प्रचलित यह कहावत सर्वहारा के प्रतिनिधियों, मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा (या माओवाद) मानने वालों पर भी ठीक ठहराती है। अतियों की शिकार एक ऐसी पत्रिका 'दायित्वबोध' है।

यह पत्रिका तमाम उन समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करती रहती है जो कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच के हैं, इसलिए ही हम इसकी आलोचना यहां पर कर रहे हैं। पत्रिका के विभिन्न अंकों में प्रकाशित सम्पादकीय लेखों को अधिकारिक दर्जा इस पत्रिका के दृश्य-अदृश्य सम्पादकों की तरफ से हासिल है इसलिए किन्तु-परन्तु का कोई मामला शेष नहीं रह जाता है। 'दायित्वबोध' के महत्वपूर्ण सम्पादकीय लेखों का संकलन जनवरी 2002 में 'उम्मीद एक जिंदा शब्द है' नाम से प्रकाशित किया गया था। इस संकलन के एक लेख जिसमें अति उपदेश, अति तुलना और अति बुद्धिमानी का परिचय दिया गया है, को ही हम अपनी आलोचना का केन्द्र बनायेंगे। यह लेख है, "भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी- राष्ट्रवादी 'मार्क्सवाद'"।

इस लेख में दो महत्वपूर्ण बातें कही गयीं हैं। पहली यह कि वे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी जो कि 'पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली' या 'पूंजीवादी विकास' या वर्तमान 'उदारीकरण-वैश्वीकरण' की 'अपरिहार्य गति के परिणाम' को 'दायित्वबोध' के सम्पादकों की दृष्टि से 'वस्तुगत तौर पर ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील कदम' नहीं मानते वे मार्क्स के नहीं सिसमोंदी के शिष्य हैं। उनका नजरिया 'लेनिनवादी नहीं बल्कि नरोदवादी' है।

दूसरी बात छोटे किसानों की तबाही-बर्बादी के सन्दर्भ में, कम्युनिस्टों के 'सही दृष्टिकोण' के बारे में है।

दोनों बातों को हम एक-एक करके लेंगे। पहली बात से शुरूआत करें। मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन के विचारों को जानने से पहले 'दायित्वबोध' के बोध का जान लें।

I

"...कृषि संकट पर मालिक किसान के नजरिये से, या ज्यादा से ज्यादा छोटे मालिक किसान के नजरिये से सोचने की प्रवृत्ति सिर्फ चुनावी वाममार्गियों के बीच ही नहीं, बल्कि क्रांतिकारी वामपंथी खेमे में भी हावी दीख रही है। चाहे खाद्यान्न-आयात का सवाल हो, सब्सिडी घटाने-खत्म करने का सवाल हो या लाभकारी मूल्य का सवाल हो, हर मामले में एक ही प्रवृत्ति दीख रही है। यह एक किस्म का 'आर्थिक रोमाण्टिसिज्म' है। यह माल-उत्पादक छोटे मालिक किसान का यूटोपिया है। यह संरक्षणवाद मुख्यतः कुलक-हितपोषक है। यह मार्क्स का नहीं, सिसमोंदी का नजरिया है। यह लेनिनवादी नहीं बल्कि नरोदवादी नजरिया है"। (पेज 177-178, जोर मूल में)

" यह पूंजीवाद के जन्मकाल से ही मौजूद निम्न पूंजीवादी समाजवाद का ही एक नया संस्करण है। ..." (पेज-177-178, जोर मूल में)

" बड़े से लेकर छोटे मालिक किसानों तक के राजनीतिक प्रतिनिधि और संशोधनवादी पार्टियां आज इस बात पर काफी शोर मचा रही हैं कि विदेशी खाद्यान्न व अन्य कृषि उत्पादों के लिए देशी बाजार को खोलकर सरकार ने किसानों की तबाही का रास्ता खोल दिया है। क्रांतिकारी संगठन भी प्रायः इस चिन्ता में सुर मिला रहे हैं।

" क्या यह एक सही वर्ग-दृष्टिकोण है? इसे समझने के लिए पिछली शताब्दी में यूरोप की ऐसी ही एक घटना का उल्लेख अप्रसांगिक नहीं होगा। उत्तर और दक्षिण अमेरिका के फार्मरों ने (मुख्यतः अपने गुलामों के श्रम के बूते पर) और भारत व अन्य उपनिवेशों के काश्तकारों को निचोड़कर प्रतिद्वंद्वियों ने पूरे यूरोप के बाजार को सस्ते गल्ले से पाट दिया था। तब इंग्लैण्ड के भूस्वामियों ने इस बात की मांग की कि बाहर से खाद्यान्न आने पर रोक लगायी जाये। इस मसले पर **मार्क्स** ने अपने विचार खाद्यान्न-आयात के पक्ष में प्रकट किये थे, क्योंकि वे इसे पूंजीवादी विकास की अपरिहार्य गति का परिणाम तथा वैज्ञानिक-आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील कदम मानते थे। उनका मानना था कि इससे उत्पादक शक्तियों के विकास की गति तेज होगी तथा छोटे मालिकों के सर्वहारा बन जाने की अपरिहार्य नियति तेजी से फलीभूत होने के साथ ही वर्गों का ध्रुवीकरण तेज हो जायेगा।..." (पेज-184, तीसरा व चौथा पैरा, जोर मूल में)

" पिछली आधी सदी से साम्राज्यवादियों के समर्थन से भारतीय पूंजीपति भूमि-सम्बंधों और कृषि के पूंजीवादी रूपान्तरण की जिन नीतियों को लागू कर रहे थे, उनकी तार्किक परिणति

के तौर पर, ऊपरी खुशहाल संस्तर को छोड़कर, मध्यम किसान आबादी तक धीरे-धीरे तबाह होकर शहरी-देहाती उजरती मजदूरों की कतारों में शामिल होती जा रही थी। उदारीकरण के दौर ने इसी प्रक्रिया को कई गुना तेज कर दिया है। दीर्घकालिक मंदी के संकट से पीड़ित साम्राज्यवादी नये-नये बाजारों की तलाश में पिछड़े देशों के सुदूर गांवों तक में पहुंच रहे हैं, और स्वदेशी पूंजीपतियों से लेकर कुलकों-फार्मरों तक को कोने में धकेल रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस और ब्रिटेन की तरह,यहां भी छोटे मालिकाने का सुनिश्चित अंत स्पष्ट दीखने लगा है। सुनिश्चित पूंजीवादी भवितव्य की दिशा में इस त्वरण से सर्वहारा वर्ग के हिरावल भला छाती क्यों पीटें? विश्व-पूंजीवाद की नग्न-निरंकुश लुटेरी प्रकृति और परभक्षी चरित्र का भण्डाफोड़ करने की दृष्टि से आर्थिक नव उपनिवेशवाद के दौर की इस विशिष्टता की चर्चा एक बात है,पर इस अपरिहार्य परिणति को रोकने या इसकी गति मद्धम करने की कोई हवाई कोशिश कम्युनिस्ट भला क्यों करेंगे? ..." (पृष्ठ-185)

"... इस पूरी प्रक्रिया में निहित नग्न-निरंकुश लूटमार को उजागार करना, और उसके विरूद्ध व्यापक मेहनतकश अवाम को सही, वास्तविक विकल्प प्रस्तुत करते हुए संगठित करना और फौरी, रोजमर्रे के संघर्षों को दूरगामी संघर्ष की कड़ी बनाना एक बात है और प्रक्रिया को रोकने की निष्फल कोशिश करना एक दूसरी बात है। **ऐतिहासिक-वैज्ञानिक दृष्टि से, वस्तुगत तौर पर तो, ध्रुवीकरण की ज्यादा से ज्यादा तीखा होते जाना एक प्रगतिशील कदम ही होगा और उसे रोकने की कोशिश एक प्रतिगामी प्रयास** होगा। उदारीकरण की नीतियों का विरोध यह स्पष्ट करते हुए होना चाहिए कि **विश्व इतिहास की यही तार्किक गति है,** यदि पूंजीवाद का नाश सर्वहारा क्रांति के द्वारा नहीं होगा तो वह इसी दिशा में आगे बढ़ेगा और यह कि पूंजीवादी चौहद्दी में दूसरा कोई विकल्प नहीं है तथा यदि कोई विकल्प है तो वह है समाजवाद।" (पृष्ठ-186, 'उम्मीद एक जिन्दा शब्द है,' प्रकाशक- राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, जोर हमारा)

तो यह है 'दायित्वबोध' का बोध! मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन की आड़ में आपने क्या शानदार कारनामा कर डाला है। उपदेश और फतवे देने की जल्दी में स्वतंत्र प्रतियोगिता के दौर के पूंजीवाद की तुलना एकाधिकारी युग के पूंजीवाद से करके आप 'मुक्त व्यापार' के समर्थक बन गये हैं। आज के दौर में इस बात का अर्थ यह निकलता है कि साम्राज्यवाद का वर्तमान चरण निर्पेक्ष तौर पर 'ऐतिहासिक -वैज्ञानिक दृष्टि से, वस्तुगत तौर पर प्रगतिशील कदम' है? हमने आपके लेख के लम्बे उद्धरण इसलिए दिये हैं कि आपकी बातों की अन्तर्वस्तु को ऐसा पाठक भी समझ ले जिसने आपके उपरोक्त लेख को न पढ़ा हो।

आपने अपने लेख में क्रांतिकारियों को खूब इस बात के लिए लताड़ा है कि उन्हें सर्वहारा, अर्ध-सर्वहारा की तबाही-बर्बादी की चिन्ता नहीं है। वैसे आप यदि अपनी इस 'मुक्त व्यापार' समर्थक नीति या दूसरे शब्दों में 'उत्पादक शक्तियों के विकास वाली' नीति से सर्वहारा, अर्ध-सर्वहारा पर पड़ने वाले प्रभाव की थोड़ी भी चर्चा करते तो आपको शायद दूसरी विसंगतियां समझ में आ जाती। शायद आपको ये भी समझ में आता कि सर्वहारा दृष्टि से साम्राज्यवाद विरोधी क्या कार्यभार निकलते हैं। या भारत के सर्वहारा को इस तथाकथित 'उत्पादन की शक्तियों के विकास वाली' या 'तीखा ध्रुवीकरण पैदा करने वाली' उदारीकरण की नीतियों या साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद के तीखे हमले का क्यों कर विरोध करना चाहिए या इस हमले के कारण क्या विशिष्ट कार्यभार निकलते है। और विरोध की जमीन क्या होगी। इस विषय पर हम शीघ्र लौटेंगे लेकिन क्योंकि आपने मार्क्स का बहुत जोर देकर हवाला दिया है इसलिए पहले देखें कि मार्क्स ने खाद्यान्न-आयात के पक्ष में क्या विचार प्रकट किये थे। साथ ही लेनिन के उन विचारों को भी इस संदर्भ में जान लेना जरूरी होगा जो उन्होंने सिसमंदी के बारे में जाहिर किये थे।

यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि आपके इस लेख से ऐसा लगता है मानो 'मुक्त व्यापार' सदैव ही अच्छा रहा है या इसके दौरान ही 'उत्पादन शक्तियों का विकास' या 'ध्रुवीकरण की प्रक्रिया' तेज हो सकती है। मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद को आप एक दूसरे के खिलाफ रख देते हैं और निरपेक्ष तौर पर 'मुक्त व्यापार' को सर्वहारा के पक्ष में और प्रगतिशील घोषित कर देते है। इस बहस की गहराई में उतरने से पहले आइये देखें कि अनाज कानून क्या था। मार्क्स ने इस कानून की किस आधार पर आलोचना की थी और क्यों 'मुक्त व्यापार' का समर्थन किया था। सीसमंदी इस संदर्भ में क्या कहते थे, इसके साथ यह जानना भी जरूरी है।

1815 में इंग्लैंड में अनाज कानून लागू किया गया था। इस कानून के तहत विदेशों से आयात होने वाले अनाज पर भारी सीमा शुल्क लगा दिया गया था। इस कानून की मांग इंग्लैड के भू-स्वामी वर्ग ने की थी। इस कानून के कारण इंग्लैड में अनाज के दाम में भारी वृद्धि हो गयी थी। इस कानून के विरोध में पूंजीपति वर्ग ने न केवल अपने वर्ग की लामबंदी की बल्कि मजदूर वर्ग को भी वह इस कानून के विरोध में लामबंद करने की कोशिश करता रहा।

अपने इस लेख में 'दायित्वबोध' के सम्पादकगण लिखते हैं मार्क्स ने खाद्यान्न आयात के सम्बन्ध में अपने विचार तब प्रकट किये थे जब इंग्लैड के भूस्वामी खाद्यान्न के आयात पर प्रतिबंध लगाने की मांग कर रहे थे। यह बात गलत है। 'दायित्वबोध' के संपादक इस विषय पर पाठकों को गलत जानकारी दे रहे हैं। आप

जो कि मार्क्सवाद के महापंडित हैं, अपने इस लेख में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को एक सांस में बीस फतवे जारी करते हैं, उन्हें मार्क्सवादी ग्रंथों को पढ़ने की गैर जरूरी सलाह देते हैं अपनी बारी आने पर एकदम साफ जाहिर कर देते हैं कि आप कितने और कैसे पढ़े-लिखे हैं। किस कोटि के विद्वान हैं। आप लोगों को किन अलंकरणों से विभूषित किया जाना चाहिये। मार्क्स ने अपने विचार (जनवरी, 1848) तब प्रकट किये थे जब कि खाद्यान्न के आयात पर लगे प्रतिबन्धों का हटाने की मांग इंग्लैण्ड का औद्योगिक पूंजीपति वर्ग एक लम्बे समय से कर रहा था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में इंग्लैंड की सत्ता में अभी अभिजात भू-स्वामी वर्ग का प्रभुत्व बना हुआ था। इस भू-स्वामी वर्ग ने अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर 1815 में खाद्यान्न के आयात पर प्रतिबंध लगवा दिया था। 1840 के दशक में मुद्दा इस लगे हुए प्रतिबंध को हटाने का था। भू-स्वामियों और पूंजीपति वर्ग के बीच वर्षों तक यह संघर्ष चलता रहा। 1846 में यह कानून समाप्त कर दिया गया। यह अन्य बातों के अलावा भू-स्वामी वर्ग पर पूंजीपति वर्ग की विजय का परिचायक भी बना। मार्क्स ने अनाज कानून को रद्द किये जाने का समर्थन किया था। मार्क्स की पक्षधरता इस कानून को खत्म करने के समर्थन के बावजूद इंग्लैण्ड के पूंजीपति वर्ग के साथ किन्हीं भी अर्थों में नहीं थी। मार्क्स सर्वहारा के अटल और सच्चे प्रतिनिधि थे। मार्क्स और सीसमंदी के तर्क क्या थे। आइये! अपने एक महान शिक्षक लेनिन के मुख से इस विषय में शिक्षा ग्रहण करें।

लेनिन ने 1897 में एक पुस्तक "**आर्थिक स्वच्छन्दतावाद का चरित्र चित्रण** सीसमंदी और हमारे देशी सीसमंदीपंथी" नाम से लिखी। इस पुस्तक का एक पूरा उप अध्याय इस विषय से सम्बन्धित है। इस उप अध्याय को लेनिन "इंग्लैण्ड में अनाज-शुल्कों का स्वच्छन्दतावाद तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त द्वारा मूल्यांकन" शीर्षक दिया। अपनी बात करने के बजाय हम सीधे लेनिन को उद्धृत कर दे रहे हैं।

लेनिन विषय को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं,

> " हम इंग्लैण्ड के **अनाज कानूनों** और उन्हें रद्द किये जाने की चर्चा कर रहे हैं। मौजूदा सदी की दूसरी चौथाई में इस समस्या में अंग्रेज ही नहीं, वरन महाद्वीप के अर्थशास्त्रियों की भी गहरी दिलचस्पी थी; उन सबने अनुभव किया कि यह शुल्क नीति से सम्बन्धित कोई विशिष्ट समस्या कदापि नहीं है, अपितु मुक्त व्यापार, मुक्त प्रतियोगिता, "पूंजीवाद की नियति" की आम समस्या है। यह मुक्त प्रतियोगिता को पूर्णतया लागू कर पूंजीवाद के शरीर पर मुकुट पहनाने का, उस "विखण्डन" को, जिसे बड़े पैमाने के मशीन-उद्योग ने गत शताब्दी के आरम्भ में इंग्लैण्ड में शुरू किया था, पूर्ण करने का रास्ता साफ करने का, **कृषि** में इस "विखण्डन" के रास्ते में खड़ी होने वाली बाधाओं को दूर करने का मामला था। महाद्वीप के दो अर्थशास्त्रियों ने, जिनकी चर्चा

करने का हमारा इरादा है, समस्या को ठीक **इसी** तरह देखा था।" (लेनिन,"आर्थिक स्वच्छन्तावाद का चरित्र-चित्रण," पृष्ठ-427, पैरा-2, खण्ड-1, सं.रचनायें दस खण्डों में, हिन्दी संस्करण, प्र.प्र.मास्को, जोर मूल में)

लेनिन पहले सीसमंदी की चर्चा करते है,

" समस्या का विवेचन करते हुए सीसमंदी लक्षित करते हैं कि अंग्रेज फार्मरों के हितों ने अनाज-शुल्कों की मांग की ताकि उनके लिए **remunerating price** ('मुनाफादेह या हानिरहित कीमत) सुनिश्चित की जा सके। परन्तु कारखानेदारों के हितों ने अनाज कानूनों को रद्द करने की मांग की, क्योंकि विदेशी मंडियों के बिना कल-कारखाने अस्तित्वमान नहीं रह सकते थे; और आंग्ल निर्यातों का आगे विकास उन कानूनों द्वारा अवरूद्ध हो रहा था, जो आयातों को सीमित करते थे...(पेज 427-428,वही)

" सीसमंदी का यह तर्क (और वह इस तर्क से अपने को सन्तुष्ट कर लेते हैं) स्वच्छंतावाद की मुख्य त्रुटि को उजागर कर देता है: स्वच्छन्दतावाद आर्थिक विकास की वस्तुतः चल रही प्रक्रिया की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देता। हम देख चुके हैं कि स्वयं सीसमंदी इंग्लैण्ड में पूंजीवादी खेती के विकास तथा फार्मरों की संवृद्धि को लक्षित करते हैं। परन्तु वह इसके कारणों का अध्ययन करने के बजाय शीघ्रतापूर्वक उसकी निन्दा करते हैं। यह शीघ्रता ही, इतिहास पर अपनी नेक कामनाएं थोपने की इच्छा इस बात पर प्रकाश डाल सकती है कि सीसमंदी कृषि में पूंजीवादी विकास की आम प्रवृति को तथा अनाज कानूनों के रद्द होने पर **इस प्रक्रिया के तेज होने** की अवश्यम्भाविता को, अर्थात कृषि के ह्रास के बजाय, जिसकी सीसमंदी भविष्यवाणी करते हैं, उसकी पूंजीवादी प्रगति को क्यों नजरन्दाज करते हैं।" (पेज 428-424,जोर मूल में, वही)

मार्क्स के तर्कों को पेश करते हुए लेनिन लिखते हैं,

" 9 जनवरी,1848 को कार्ल मार्क्स ने ब्रसेल्स में एक सार्वजनिक सभा में 'मुक्त व्यापार पर भाषण' किया। स्वच्छन्दतावादियों के विपरीत जिन्होंने ऐलान किया कि "राजनीतिक अर्थशास्त्र आकलन का शास्त्र नहीं है, बल्कि नैतिकता का शास्त्र है," मार्क्स ने ठीक **हितों के** सीधे संजीदे **आकलन** को अपनी व्याख्या का प्रस्थान-बिन्दु बनाया। अनाज कानून के प्रश्न को राष्ट्र द्वारा चुनी गयी "प्रणाली" से या विधान से सम्बन्धित प्रश्न के बजाय (जैसा कि सीसमंदी ने माना), उन्होंने इस प्रश्न को कारखानेदारों तथा भू-स्वामियों के हितों के बीच टकराव के रूप में पेश किया तथा यह दिखाया कि अंग्रेज कारखानेदारों ने कैसे सवाल को पूरे राष्ट्र के मामले के रूप पेश करने का प्रयत्न किया; मजदूरों को यह यकीन दिलाने का प्रयत्न किया कि वे जनगण के मंगल-कल्याण के

लिए काम कर रहे हैं। स्वच्छन्दतावादी के विपरीत, जिन्होंने सवाल को उन सलाहों के रूप में पेश किया, जिन्हें किसी कानून बनाने वाले को सुधार पर अमल करते समय ध्यान में रखना चाहिए, वक्ता (अर्थात् मार्क्स-लाल सलाम) ने सवाल को आंग्ल समाज के विभिन्न वर्गों के वास्तविक हितों के बीच टकराव की परिधि में रख दिया। उन्होंने बताया कि पूरा सवाल कच्ची सामग्रियों को कारखानेदारों के लिए सस्ता बनाने की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ है।...

" अंग्रेज मजदूर भू-स्वामियों तथा औद्योगिक पूंजीपतियों के बीच संघर्ष का असली महत्व खूब अच्छी तरह समझ गये हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि रोटी की कीमत इसलिए घटेगी कि उजरत घटायी जा सके और औद्योगिक मुनाफा उतना ही बढ़ेगा, जितना जमीन का लगान घटेगा।...

" इस तरह **समस्या का स्वयं प्रस्तुतीकरण** सीसमंदी से सर्वथा भिन्न है। वक्ता द्वारा अपने लिए निर्धारित ध्येय थे-पहला, समस्या के प्रति आंग्ल समाज के विभिन्न वर्गों के रूख को उनके हितों के दृष्टिकोण से समझना, दूसरा, आंग्ल सामाजिक अर्थव्यवस्था के सामान्य विकासक्रम में सुधार के महत्व पर प्रकाश डालना।...

" उनके लिए यह कोई अमूर्त समस्या नहीं है कि इंग्लैण्ड को कौन सी **प्रणाली** अपनानी चाहिए, उसे कौन सा रास्ता अपनाना चाहिए (जिस तरह सवाल को सीसमंदी ने पेश किया था, जो यह भूल जाते हैं कि इंग्लैण्ड के पास ऐसा अतीत तथा वर्तमान हैं, जो उस रास्ते को निर्धारित करते हैं)। नहीं, वह सवाल को तुरन्त **समकालीन सामाजिक-आर्थिक प्रणाली** के आधार पर पेश करते हैं, वह अपने से पूछते है, अनाज कानूनों को रद्द किये जाने के बाद इस प्रणाली के विकास में **अगला कदम क्या होना चाहिए?**...

" 'यह सारा तर्क यह बनकर रह जाता है : **मुक्त व्यापार उत्पादक शक्तियां बढ़ाता है।** यदि उद्योग बढ़ता रहे, यदि सम्पदा, उत्पादक शक्तियां, संक्षेप में, उत्पादक पूंजी श्रम की अधिक मांग करती है, तो श्रम की कीमत और फलस्वरूप उजरत की दर भी बढ़ती है। **मजदूर के लिए सबसे बेहतर अवस्था पूंजी की वृद्धि है। यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।** यदि पूंजी गतिहीन रहती है, तो उद्योग न केवल गतिहीन रहेगा, अपितु उसका ह्रास भी होगा और ऐसी सूरत में मजदूर पहला शिकार बनेगा। वह पूंजीपति से पहले तबाह हो जायेगा। और उस सूरत में, जब पूंजी बढ़ती जाती है, उन परिस्थितियों में, जिन्हें हमने मजदूर के लिए **बेहतर** कहा है, उसकी नियति क्या होगी? वह उसी तरह तबाह हो जायेगा'... अंग्रेज अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये आंकड़ों का हवाला देते हुए वक्ता ने आगे चलकर विस्तारपूर्वक समझाया कि पूंजी का संकेन्द्रण कैसे श्रम-विभाजन बढ़ाता है, जो हुनरमंद श्रम की जगह गैर हुनरमंद श्रम को लाकर श्रम-शक्ति को

सस्ता बनाता है, कि कैसे मशीनें मजदूरों को बाहर धकेलती हैं, कैसे बड़ी पूंजी छोटे उद्योगपतियों तथा छोटे किराया- जीवियों को तबाह करती है और संकटों को उग्र बनाती है, जो बेरोजगारों की तादाद को और ज्यादा बढ़ा देते हैं। अपने विश्लेषण में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मुक्त व्यापार का अर्थ केवल पूंजी के विकास की स्वतन्त्रता है।

" इस प्रकार वक्ता उस समस्या के समाधान की कसौटी ढूंढ सके, जो पहली नजर में उस अंतहीन द्विविधा की ओर ले जाती प्रतीत होती है, जिसके सामने सीसमंदी रूक गये थे : मुक्त व्यापार तथा उसका अंकुश दोनों समान रूप से मजदूरों की तबाही की ओर पहुंचाते हैं। **कसौटी है उत्पादक शक्तियों का विकास।** यह तत्क्षण स्पष्ट हो गया था कि समस्या पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से गौर किया गया था : पूंजीवाद की किसी अमूर्त समाज से, जैसा उसे होना चाहिए (याने कल्पना युक्त) तुलना करने के बजाय लेखक ने सामाजिक अर्थव्यवस्था की **पूर्ववर्ती मंजिलों** से उसकी तुलना की, पूंजीवाद की भिन्न-भिन्न मंजिलों की, जिस रूप में उन्होंने क्रमपूर्वक एक-दूसरे का स्थान ग्रहण किया, तुलना की और सिद्ध किया कि **समाज की उत्पादक शक्तियां पूंजीवाद के विकास की बदौलत विकसित होती है।**" (पेज-439-440, वही, जोर मूल में)

उपरोक्त लम्बे उद्धरण से कुछ बातें एकदम स्पष्ट हैं। पहली कि मार्क्स (या लेनिन) जब मुक्त व्यापार (या अनाज कानूनों को समाप्त करने का) समर्थन करते है तो उनकी एक सुपरिभाषित कसौटी है। वह कसौटी है उत्पादक शक्तियों का विकास। यहां सवाल मुक्त व्यापार या संरक्षणवाद का नहीं है। क्यों? क्योंकि 'मुक्त व्यापार' तथा अंकुश दोनों ही मजदूरों को तबाही की ओर ले जाते हैं। मार्क्स ने मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद के वर्ग अंतर्य को अपने उपरोक्त भाषण में बहुत साफ तौर पर स्पष्ट कर दिया है। लेनिन ने भी अपनी उपरोक्त पुस्तक में एक स्थान पर बहुत साफ तौर पर सीसमंदी के द्वारा संरक्षणवाद के समर्थन में दिये जाने वाले तर्कों के जबाव में लिखा है,

"परन्तु एक ऐसे सामाजिक-राजनीतिक कारक को,जो किसी सम्बद्ध आर्थिक प्रणाली का,मात्र उसका होता है, किसी काल्पनिक प्रणाली के साथ जोड़ना बेतुकापन है। संरक्षणवाद पूंजीवाद का 'सामाजिक-राजनीतिक कारक' हैं, परन्तु सीसमंदी उसे पूंजीवाद के साथ नहीं जोड़ते, वह उसे **सामान्यतया** किसी राष्ट्र के साथ (या छोटे आत्म-निर्भर के राष्ट्र के साथ) जोड़ते हैं।" (पेज-351,पैरा-2,जोर मूल में)

" आधुनिक सिद्धान्त ने सामाजिक अर्थव्यवस्था की निश्चित ऐतिहासिक प्रणाली के साथ, उस प्रणाली में सरकारों के समर्थन का उपभोग करने वाले प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों के साथ

संरक्षणवाद के सम्बंध को उजागर कर इन भ्रमों को पूरी तरह बेनकाब कर दिया है। उसने दिखाया कि संरक्षणवाद तथा मुक्त व्यापार का सवाल उद्यमकारों **के बीच** (कभी-कभी विभिन्न देशों के उद्यमकारों के बीच, कभी-कभी सम्बद्ध देश के उद्यमकारों के विभिन्न गुटों के बीच) सवाल है। (पेज 356, पैरा दो, जोर मूल में, वही)

मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद पर कुछ अन्य बातें। स्वतंत्र प्रतियोगिता के दौर वाले पूंजीवाद में भी मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद के दौर आते-जाते रहते थे। सीसमंदी इसलिए गलत थे क्योंकि वे उस दौर में 'बुर्जुआ समाज को नहीं, अपितु छोटे आत्म-निर्भर उत्पादकों के समाज को सामान्य तथा स्वाभाविक समझते' थे। सीसमंदी की पक्षधरता उन्हें उस जगह पर पहुंचा रही थी जहां पर वे इतिहास की अग्रगामी शक्ति के बजाय पश्चगामी शक्ति के चाहे-अनचाहे पिच्छलग्गू बन जा रहे थे। भू-स्वामी वर्ग के हित 1815 में इस बात में छुपे हुये थे कि अनाज कानून लागू हो। अनाज के दामों में वृद्धि और लगान की बढ़ी हुई मात्रा उसके हित में थी। पूंजीपति वर्ग इसके खिलाफ था क्योंकि वह भली-भांति जान रहा था कि मुक्त व्यापार के जरिये अनाज के दामों में तथा भू-लगान में कमी लायी जा सकती है और इस तरह उजरत घटायी जा सकती है और औद्योगिक मुनाफा बढ़ाया जा सकता है। मुक्त व्यापार इंग्लैण्ड के तेजी से उभरते औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के हित में इसलिए भी था ताकि वो विदेशी मंडियों पर कब्जा कर सके।

एंगेल्स ने अनाज कानूनों को समाप्त करने का जो ऐतिहासिक संदर्भ दिया है, वह इस मामले को और भी अधिक स्पष्ट करता है। एक उत्पादन प्रणाली का स्थान दूसरी उत्पादन प्रणाली तथा एक वर्ग का स्थान दूसरा वर्ग कैसे लेता है, उसे भी यह उद्धरण एकदम स्पष्ट करता है।

एंगेल्स लिखते हैं,

" जहां फ्रांस में क्रांति ने पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक विजय सुनिश्चित कर दी थी, वहीं इंग्लैण्ड में वाट, आर्कराइट, कार्टराइट और दूसरों ने औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात किया था, जिसने आर्थिक शक्ति के मुख्य केन्द्र को पूरी तरह स्थानान्तरित कर दिया। अभिजात जमींदारों की अपेक्षा पूंजीपतियों का धन और वैभव बहुत तेजी से बढ़ा। स्वयं पूंजीपति वर्ग के अंदर कारखानेदारों ने वित्तीय महाप्रभुओं को, बैंकरों, वगरैह को अधिकाधिक पृष्ठभूमि में ढकेल दिया। 1689 का समझौता, बावजूद इसके कि उसमें धीरे-धीरे पूंजीपति वर्ग के हित में परिवर्तन हुए थे, अब दोनों पक्षों की सापेक्ष स्थिति के अनुरूप न रहा। इन पक्षों का स्वरूप भी बदल गया था। 1830 का पूंजीपति वर्ग पिछली शताब्दी के पूंजीपति वर्ग से बहुत भिन्न था। अभी भी जो राजनीतिक शक्ति अभिजात वर्ग के हाथ में छोड़ दी गयी थी और जिसका उपयोग वे नये औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के

दावों का विरोध करने में करते थे, अब उसका नये आर्थिक हितों से मेल न रह गया। अभिजात वर्ग के साथ एक नया संघर्ष आवश्यक हो गया और उसका अंत नई आर्थिक शक्ति की विजय में ही हो सकता था। पहले तो 1830 की फ्रांसीसी क्रांति के आघात से, सारे प्रतिरोध के बावजूद सुधार-कानून (यह चुनाव सुधार कानून था जिसके तहत औद्योगिक पूंजीपति वर्ग को संसद में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। सर्वहारा और निम्न पूंजीपति वर्ग आंदोलन की मुख्य शक्ति होने के बावजूद कुछ हासिल न कर सका–लाल सलाम) को पास किया गया। इस कानून ने पार्लियामेंट में पूंजीपति वर्ग को एक शक्तिशाली और सम्मानित स्थान प्रदान किया। इसके बाद अनाज कानूनों को मंसूख किया गया और इसने भूमिधर अभिजात वर्ग पर पूंजीपति वर्ग का, विशेष रूप से उसके सबसे सक्रिय भाग कारखानेदारों का, प्रभुत्व सदा के लिए स्थापित कर दिया।" (एंगेल्स, 'समाजवाद काल्पनिक वैज्ञानिक के 1892 के अंग्रेजी संस्करण की विशेष भूमिका' पृष्ठ-132,पैरा-2, खण्ड-3, भाग-1, मा.ए., सं.रचनायें तीन खण्डों में, हिन्दी संस्करण, प्र.प्र.मास्को)

जहां तक सवाल 'मुक्त व्यापार' और 'संरक्षणवाद' का है वहां यह बात रही है कि ये दोनों ही अपनी-अपनी बारी में एक दूसरे को पैदा करते रहे है। यह इतिहास का एक तथ्य है कि जिस वक्त इंग्लैण्ड में पूंजीपति वर्ग मुक्त व्यापार का गीत गा रहा था, ठीक उसी वक्त जर्मनी और अमेरिका संरक्षणवाद के नारे लगा रहे थे।

एकाधिकारी पूंजीवाद अर्थात् साम्राज्यवाद के युग में तो संरक्षणवाद अलग-अलग ढंग से अलग-अलग समय में अलग-अलग देशों द्वारा अपनायी जाने वाली आम नीति का हिस्सा बन जाता है। जो साम्राज्यवादी देश अन्य देशों से आर्थिक-सामरिक हैसियत में आगे रहता है वह मुक्त व्यापार का या खुली होड़ का पक्षधर होता है और जो इस मामले में कमजोर और पिछड़ा होता है वह आम तौर पर संरक्षणवादी नीतियां अपनाता है। यह एक सुविदित तथ्य है कि भारत जैसे तीसरी दुनिया के कई देशों में, पिछली सदी के नवें दशक तक, इन देशों के पूंजीपति वर्ग ने, अपनी गृहमण्डी का निर्माण व विस्तार मूलतः संरक्षणवादी नीतियों के आधार पर ही किया था। तीसरी दुनिया के नवोदित शासक वर्ग के लिए तात्कालिक विश्व परिस्थिति ने भी इन नीतियों को अपनाने के लिए अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराया था। वैसी विश्व परिस्थिति फिर उत्पन्न होने से तीसरी दुनिया के कई शासकों को ऐसे या वैसे इन नीतियों को फिर से अपनाते देख सकते हैं। अमेरिका, जापान, यूरोपीय यूनियन के देशों के बीच संरक्षणात्मक महसूलों को लेकर तमाम किस्म के तनाव तो पिछले एक-डेढ़ दशक से जारी हैं। चीन के सस्ते माल से खतरा कई देश महसूस करते है और विश्व व्यापार संगठन, जो मुक्त व्यापार का झण्डाबरदार है, के द्वारा बनाये गये चार्टर में भी संरक्षणात्मक महसूलों का प्रावधान है।

इसलिए 'दायित्वबोध' के सम्पादकों द्वारा आज के 'मुक्त व्यापार' की तुलना उन्नीसवीं सदी के 'मुक्त व्यापार' से करना न केवल निरर्थक है बल्कि 'दायित्वबोध' की ही भाषा शैली में वे 'दिग्भ्रम-मतिभ्रम-कालभ्रम' के शिकार हैं। पूंजीवाद के सम्पूर्ण युग में भी 'मुक्त व्यापार' कोई काल निरपेक्ष और बुर्जुआ वर्ग की स्थायी नीति नहीं रही है।

अब पुनः मार्क्स द्वारा बतायी गयी कसौटी की ओर लौटा जाय। मार्क्स की कसौटी है उत्पादक शक्तियों का विकास। अनाज कानून पूंजीवाद के विकास में बाधा खड़ी कर रहा था। इस कानून की समाप्ति ने इंग्लैंड में पूंजीवाद के विकास को त्वरण प्रदान किया । मार्क्स ने जब अपना उपरोक्त भाषण दिया था तब उन्होंने यह एकदम साफ कहा था कि वे मुक्त व्यापार का समर्थन केवल इस अर्थ में कर रहे हैं कि मुक्त व्यापार के मार्फत पूंजीवाद इंग्लैण्ड तथा यूरोप के देशों में पुराने आर्थिक जीवन तथा पुराने सामन्ती सम्बन्धों को नष्ट कर रहा है।

आज स्थिति क्या है? हम स्वतंत्र प्रतियोगिता के दौर वाले पूंजीवाद में नहीं रह रहे हैं। हम पूंजीवाद की चरम अवस्था साम्राज्यवाद के युग में रह रहे हैं। साम्राज्यवाद के युग में उसकी 'सबसे गहरी आर्थिक नींव इजारेदारी' है। इस युग में प्रतियोगिता का स्थान इजारेदारी ले लेती है। साम्राज्यवाद को लेनिन ने इजारेदार, परजीवी, मरणासन्न पूंजीवाद कहा है। लेकिन 'दायित्वबोध' के सम्पादक बुरी तरह से 'कालभ्रम' के शिकार हो चुके हैं। 'दायित्वबोध' के सम्पादकों के दिमाग में क्योंकि भ्रम की मकड़ी ने महाजाल बुन डाला है। कीट-पतंगे खाकर यह मकड़ी बहुत मोटी हो गयी है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है इस मोटी मकड़ी को मारा जाये और उसके जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। इसके लिए क्या किया जा सकता है? इसके लिए एक ही काम किया जा सकता है, सर्वहारा के महान शिक्षकों की शिक्षा की कीटनाशक दवा का छिड़काव किया जाय। जो उजूल-फिजूल बातें 'दायित्वबोध' के सम्पादक कर रहे हैं उनका खुलासा किया जाये और इन्हें सही अवस्थिति पर खड़ा किया जाय। महापण्डितों को वे सारी बातें याद दिलायी जायें जो कि उनके दावों के अनुसार वे जानते हैं।

थोड़ा विषयान्तर तो अवश्य होगा। परन्तु 'दायित्वबोध' के सम्पादकों के दिमाग के मकड़जाल की चर्चा करना इसलिए जरूरी है ताकि यह समझा जा सके कि 'दायित्वबोध' के सम्पादक जो कि भारत में क्रांतिकारिता के स्वघोषित एक मात्र झंडाबरदार हैं; की साम्राज्यवाद के बारे में की जाने वाली निरर्थक व सारहीन बातें क्या-क्या हैं और क्यों वे ऐसी बातें करते हैं।

कुछ बानगियां देखिये। निम्न उद्धरणों में सभी स्थानों पर जोर हमारा है।

" **पश्चिमी पूंजी** के दिग्विजय की राह की **राष्ट्रीय बाधाएं कमोवेश समाप्त हो गई हैं।**" (उम्मीद एक जिन्दा शब्द है, पृष्ठ-154)

" विश्व पूंजीवाद की **आर्थिक विकास की सम्भावनाएं निश्शेष हो चुकी हैं।**" (वही, पृष्ठ-162)

" इस सदी के शुरू में पूंजीवाद ने अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद की मंजिल में प्रवेश किया तो उस समय अर्थव्यवस्था की 'कमाडिंग हाइट्स' पर वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व कायम हो चुका था और वित्तीय महाप्रभु वर्ग औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का बड़ा साझेदार तो बन चुका था फिर भी **कुल मिला कर वित्त अभी उत्पादन के अधीन या उसके लिए था, उससे पूर्ण स्वतंत्र नहीं था**...फिर इसमें परिवर्तन आने शुरू हुए और **नवां दशक आते-आते स्थिति यह हो चुकी है कि वित्तीय पूंजी वास्तविक आर्थिक उत्पादन की सामान्य सहायक भूमिका से पूरी तरह स्वतंत्र होकर** सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व कायम कर चुकी है।" (पेज-157,वही)

" पूरे विश्व अर्थतंत्र पर सट्टेबाज पूंजी के आधिपत्य की इस स्थिति को हम वित्तीय पूंजी की अन्तिम और निर्णायक जीत कहना पसन्द करेंगे जो वास्तव में निकट भविष्य में (गौर करें, सुदूर भविष्य में नहीं, अगली कुछ दशाब्दियों में) साम्राज्यवाद की अन्तिम पराजय का पूर्वसंकेत है। यह इस पराजय का ऐतिहासिक वस्तुगत आधार है जिसे भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने तैयार का दिया है। (प्रष्ठ-169-170, वही)

"... लेकिन इस चर्चा में जाने से पहले न्याय संगत यही होगा कि इस **तथ्य को स्वीकार किया** जाये कि विगत लगभग चौथाई शताब्दी के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की संरचना, प्रकृति और कार्यप्रणाली में निस्संदेह कुछ **ऐसे परिवर्तन हुये है** जिन्हें मात्र **आभासी या परिमाणात्मक** नहीं माना जा सकता। **ये परिवर्तन निश्चित ही मूलभूत** हैं। ये **आंशिक गुणात्मक परिवर्तन हैं,** जिन्हें **प्रभात पटनायक** और **एजाज अहमद** (और कुछ अन्य मार्क्सवादी विद्वानों ने भी), ठीक ही रेखांकित किया है। इनमें से सबसे पहले जिस फर्क की चर्चा की जानी चाहिए, वह है **वित्तीय पूंजी के चरित्र** में आने वाला **बुनियादी परिवर्तन। लेनिन** ने बैंक पूंजी और औद्योगिक पूंजी से मिलकर एक हो जाने के चलते वित्तीय पूंजी के उद्भव की प्रक्रिया को रेखांकित किया था। **आज वित्तीय पूंजी न केवल पहले की अपेक्षा** उत्पादक पूंजी पर **अत्यधिक प्रभुत्व** कायम किये हुए है, बल्कि यह एक **स्वायत्त चरित्र ग्रहण कर चुकी है।** वास्तविक उत्पादन के बजाय इसकी दिलचस्पी केवल त्वरित भूमण्डलीकरण आवाजाही के जरिये जुएबाजी/सट्टेबाजी से त्वरित लाभ

अर्जित करने में है, जिसके चलते **वास्तविक उत्पादन "जुआघरों का उपोत्पाद" बन कर रह गया है।**"('दायित्वबोध', जुलाई-सितम्बर, 2005, सम्पादकीय, पृष्ठ-10)

"साम्राज्यवाद की सर्वाधिक विशिष्ट अभिलाक्षणिकता के रूप में **लेनिन ने माल-पूंजी के निर्यात** (जो वाणिज्यिक पूंजीवाद और स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले औद्योगिक पूंजीवाद के युग से ही जारी था) **के साथ-साथ मुद्रा-पूंजी और उत्पादक पूंजी के निर्यात की प्रवृत्ति के** शुरू हाकर प्रमुख महत्व ग्रहण कर लेने की परिघटना पर विशेष बल दिया था। पूंजी के **'संचलन'** की जगह **'निर्यात'** शब्द के इस्तेमाल का कारण यह था कि **साम्राज्यवाद एक** ऐसी **दुनिया में विश्व बाजार का निर्माण कर रहा था, जो देशों में विभाजित थी।**" (पृष्ठ-11,वही)

"...आज के साम्राज्यवाद की यह विशिष्टता है कि औपनिवेशिक-राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन ने जो कुछ लिखा था उसे आज की दुनिया पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रश्न आज उस रूप में मौजूद ही नही रह गया है।" (पृष्ठ-18, वही)

तो ये तो रहे 'दायित्वबोध' के सम्पादकों के ज्ञानोदय के चमकदार मोती। लेनिन की साम्राज्यवाद की थीसिस के इस 'बोध' पर तो स्वयं लेनिन भी शर्मा जायें। सम्पादकों ने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र में ऐसी कई नयी बातें जोड़ दी है जो उसके प्रवर्तकों ने कभी नहीं कहीं। जैसे उत्पादक पूंजी के निर्यात जैसी हास्यास्पद बात। विद्वान जनों को सलाह देना तो अच्छा नहीं लगता लेकिन कृपा करके मार्क्स की 'पूंजी' के दूसरे खण्ड को पढ़कर उत्पादक पूंजी का अर्थ ग्रहण कर लें। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद को इतने जोर से मत कसो कि उसकी जान निकल जाय। 'आंशिक गुणात्मक परिवर्तन'...'राष्ट्रीय बाधाएं कमोबेश समाप्त हो गयी है।' '... आर्थिक विकास की संभावनाएं निश्शेष हो चुकी हैं, और 'राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन की थीसिस अप्रासांगिक हो चुकी है'। क्या है, जनाब ये सब? लेनिन में आपको खोट नजर आ रहे हैं लेकिन प्रभात परनायक और एजाज अहमद की दृष्टि आपको कायल कर रही है। 'दायित्वबोध' के नवीनतम अंक (जुलाई-सितम्बर 2005) में आप अपने ज्ञान लट्ठ से प्रभात पटनायक और एजाज अहमद को दुरस्त करने गये थे फिर थोड़ी ही देर में उनसे होली मिलन कैसे करने लगे। क्यों अपने माथे और चेहरे पर उनसे अबीर-गुलाल लगवाने लगे। अगले अंक में तो अभी आप साम्राज्यवाद के बारे में बहुत-कुछ कहने वाले हैं। अल्लाह! जाने क्या होगा?

पुनः मूल विषय की ओर लौटा जाये। 'दायित्वबोध' के सम्पादकगण साम्राज्यवाद के युग में उत्पादन शक्तियों के विकास के सन्दर्भ में बुरी तरह से भ्रम के शिकार हैं। वजह साफ है। 'दायित्वबोध' के सम्पादकों ने लेनिन की थीसिसों के मर्म को सही ढंग से ग्रहण ही नहीं किया है। कोई भी पाठक 'दायित्वबोध' के जिन अंशों को हमने उद्धृत किया है उनमें उनकी अंतरर्विरोधी अवस्थितियों और बोध को देख सकता है। एक तरफ

ये घोषणा करते हैं कि विश्व पूंजीवाद की आर्थिक विकास की सम्भावनाएं निश्शेष हो चुकी हैं तो दूसरी तरफ घोषित करते हैं कि उदारीकरण की नीतियों के कारण तीखा होने वाला वर्गीय ध्रुवीकरण ऐतिहासिक-वैज्ञानिक दृष्टि से प्रगतिशील कदम है। बुरी तरह से उलझाव कायम है। मार्क्स की कसौटी उत्पादन शक्तियों का विकास है ना कि उसके कारण होने वाला ध्रुवीकरण या तबाही-बर्बादी। मार्क्स शमशान घाट पर मृतकों को बढ़ती संख्या देखकर खुश होने वाले भैरवी नर्तक नहीं थे बल्कि वे उस प्रक्रिया के स्रोत को ही नष्ट करने वालों यानि सर्वहारा वर्ग के सिद्धान्त और दर्शन को रचकर उन तक उसे पहुंचा रहे थे। मार्क्स जब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को श्रेष्ठ ठहरा रहे थे तो वे उसकी तुलना प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से कर रहे थे। और प्रत्येक स्थिति में उनका विश्लेषण सर्वहारा के हितों को ध्यान में रखकर हो रहा था।

साम्राज्यवाद की अपनी थीसिस में लेनिन ने कहीं भी यह नहीं कहा कि विश्व पूंजीवाद के आर्थिक विकास की सम्भावनाएं समाप्त हो चुकी हैं। उत्पादन शक्तियों का विकास अवरूद्ध हो चुका है और अब समाज में जो ध्रुवीकरण पैदा हो रहा है वह उत्पादक पूंजी से विलग हो चुकी वित्तीय पूंजी (आपके लिए अब जिसका एक ही अर्थ सट्टा पूंजी है) की अनियंत्रित भूमण्डीय आवाजाही के कारण ही हो रहा है। कीन्स की बातें आपको ठीक लग रही हैं। हम आपको याद दिलाना चाहेंगे कि आप कीन्स के नहीं लेनिन के शिष्य हैं।

साम्राज्यवाद की अपनी थीसिस में लेनिन ने साम्राज्यवाद को मरणासन्न और समाजवाद में संक्रमण कर रहा पूंजीवाद कहा है। साम्राज्यवाद में उत्पादन शक्तियों का विकास कैसे होता है और उसकी विशेषता क्या होती है। इसके लिए हम लेनिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' के कुछ हिस्सों को उद्धृत करना चाहेंगे। अपनी इस पुस्तक के दसवें अध्याय 'इतिहास में साम्राज्यवाद का स्थान' में लेनिन लिखते हैं,

> " यह बात सर्वविदित है कि इजारेदार पूंजीवाद ने पूंजीवाद की विसंगतियों को कितना उग्र बना दिया है। महंगाई तथा कार्टेलों के अत्याचारों का ही उल्लेख कर देना काफी है। विसंगतियों का इस प्रकार उग्र होना इतिहास के उस संक्रमणकालीन युग की सबसे प्रबल प्रेरक शक्ति है, जो विश्वव्यापी वित्तपूंजी की अंतिम विजय के समय से आरम्भ हुआ।
>
> "इजारेदारियां, अल्पतंत्र, स्वतंत्रता की चेष्टा के बजाय प्रभुत्व की चेष्टा, मुट्ठीभर सबसे धनवान तथा सबसे ताकतवर राष्ट्रों द्वारा बढ़ती हुई संख्या में छोटे या कमजोर राष्ट्रों का शोषण – इन सबने साम्राज्यवाद की उन लाक्षणिक विशेषताओं को जन्म दिया है, जिनके कारण हमें उसको परजीवी अथवा ह्रासोन्मुख पूंजीवाद कहने पर विवश होना पड़ता है। साम्राज्यवाद की एक प्रवृत्ति के

रूप में उस "किराया जीवी राज्य", साहूकार राज्य का निर्माण दिन प्रति-दिन ज्यादा उभकर कर सामने आता है, जिसमें बुर्जुआ वर्ग निरंतर बढ़ती हुई मात्रा में पूंजी के निर्यात से होने वाली आय पर और "कूपन काटकर" जीवित रहता है। **यह समझना भूल होगी कि ह्रास की इस प्रवृत्ति का मतलब यह है कि पूंजीवाद का तीव्र गति से विकास असंभव है। ऐसा नहीं होता। साम्राज्यवाद के युग में उद्योगों की कुछ शाखाएं, बुर्जुआ वर्ग के कुछ स्तर और कुछ देश कम या ज्यादा हद तक इन प्रवृत्तियों में से कभी एक और कभी दूसरी प्रवृत्ति** प्रदर्शित करते हैं। **कुल मिलाकर पूंजीवाद का विकास पहले की अपेक्षा बहुत तेजी से हो रहा है,** परन्तु यह विकास न केवल **आमतौर** से **अधिकाधिक असमान होता जा रहा है,** बल्कि यह भी हो रहा है कि उसकी **असमानता विशेष** रूप से उन देशों के ह्रास में व्यक्त होती है, जो पूंजी के मामले में सबसे धनी हैं (इंग्लैण्ड)।"(लेनिन,'साम्राज्यवाद,पूंजीवाद की चरम अवस्था',पेज- 355-356,खण्ड-5, संकलित रचनायें दस खण्डों में प्र.प्रकाशन,मास्को,जोर हमारा)

स्पष्ट है कि लेनिन की थीसिस यह नहीं कहती कि साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवाद का विकास नहीं होता। होता यह है कि साम्राज्यवाद के युग में यह विकास अधिकाधिक असमान हो जाता है। इस युग में पूंजीवाद की विसंगतियां उग्रतर होती जाती हैं। इस युग में इजारेदारी होड़ का स्थान ले लेती है। इस कारण यह होता है कि उत्पादन के समाजीकरण की दिशा में तीव्र प्रगति होती है। उत्पादन शक्तियों के ह्रास के मामले में लेनिन साफ तौर पर उन देशों की ओर इशारा करते हैं जो पूंजी के मामले में सबसे धनी हैं। वे इंग्लैण्ड का नाम लेते हैं। आज भी यही स्थिति है। अधिकांश साम्राज्यवादी देशों में विकास की गति अत्यंत धीमी है। कई बार तो विकास दर शून्य या ऋणात्मक तक हो जा रही है। अमेरिका, जापान, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन तो अपने देशों में उत्पादन शक्तियों के विकास के स्तर से उत्पादन ही नहीं कर रहे हैं। इसी तरह से वे अपनी इस पुस्तक में कई उदाहरण देते हैं कि कैसे इजारेदारियां उत्पादक शक्तियों के विकास में अवरोध उत्पन्न करती हैं। भावी लाभ की सम्भावना को देखते हुए वे नये वैज्ञानिक आविष्कारों से मानवजाति को वंचित कर देती हैं। इसी तरह पहले और दूसरे विश्व युद्ध में तो उत्पादन शक्तियों का भारी विनाश हुआ ही था। साम्राज्यवाद के इस पूरे युग में साम्राज्यवादी शक्तियों में से कुछ के आगे बढ़ने तथा कुछ के पीछे छूट जाने का सिलसिला चलता रहता है। बीसवीं सदी का पूरा इतिहास इससे भरा पड़ा है। यहां तक कि एकदम नयी साम्राज्यवादी शक्ति सोवियत साम्राज्यवाद छठे दशक में जन्म लेती है और सदी का अंत होते-होते उसका पतन हो जाता है।

साम्राज्यवाद के बारे में यह धारणा कि वह तीसरी दुनिया में उत्पादन शक्तियों का विकास करता है, एकांगी है। गौण पहलू को प्रधान बनाना है। बीसवीं सदी में 'वैश्वीकरण' के मौजूदा दौर के पहले और बाद

में साम्राज्यवाद ने तीसरी दुनिया के देशों में व्यापक लूट की है और तबाही फैलायी है। जो कि आज भी वैसे ही जारी है। साइप्रस जैसा देश जो एक समय तांबे के मामले में बहुत समृद्ध था आज तांबे की अधिकांश दौलत को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लुटा चुका है। आज वहां स्थान-स्थान पर तांबे से रहित खानें पड़ी हुई हैं जो पर्यावरण के लिए भयानक खतरा बन चुकी हैं। अफ्रीका, एशिया, दक्षिण अमेरिका के कई देशों का भी ऐसा ही हाल है। अपनी एक अन्य पुस्तिका 'साम्राज्यवाद तथा समाजवादी आंदोलन में फूट' में लेनिन ने बहुत ही वैज्ञानिक और सारगर्भित ढंग से साम्राज्यवाद और समाजवाद के सम्बंध में बात कही है। लेनिन लिखते है,

> '' यह समझ में आता है कि साम्राज्यवाद क्यों **मरणासन्न** पूंजीवाद, समाजवाद में **संक्रमण कर रहा** पूंजीवाद हैः इजारेदारी, जो पूंजीवाद **से** जन्म लेती है, **अभी ही** मरणासन्न पूंजीवाद है, समाजवाद में उसके संक्रमण की शुरूआत है। साम्राज्यवाद द्वारा श्रम का जबर्दस्त समाजीकरण (वह, जिसे उसके पैरोकार-बुर्जुआ अर्थशास्त्री "अंतर्गुथन" कहते हैं) भी स्वयं उसी का द्योतक है।"
>
> (लेनिन, 'साम्राज्यवाद तथा समाजवादी आंदोलन में फूट,' पृष्ठ-212, पैरा-2, खण्ड-6 जोर मूल में, वही)

मार्क्स की तरह लेनिन भी साम्राज्यवाद का विश्लेषण करते समय मार्क्स की कसौटी – 'उत्पादन शक्तियों के विकास' और 'समकालीन सामाजिक-आर्थिक प्रणाली' में विकास का स्थान कौन सी प्रणाली लेगी तथा वह सर्वहारा के हितों का बेहतर ढंग से प्रतिनिधित्व करेगी – का ही पालन कर रहे हैं।

'दायित्वबोध' के सम्पादकगण ठीक यही काम नहीं कर रहे हैं। गलत तुलनायें करके अपने पाठकों को भ्रमित करने का प्रयास कर रहे हैं। गलत पद्धति अपनाकर साम्राज्यवाद के सवाल पर स्थापित लेनिनवादी सोच को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हें।

लेनिन की साम्राज्यवाद की थीसिस में दो पहलू हैं। पहला पहलू जहां पूंजीवाद की पतनशीलता, मरणासन्नता को प्रकट करता है वहां दूसरा पहलू उत्पादन शक्तियों तथा श्रम के समाजीकरण में होने वाली प्रगति को अभिव्यक्त करता है। 'दायित्वबोध' के सम्पादकीय के जिन अंशों को हमने उद्धृत किया है उनसे स्पष्ट है कि ये लोग लेनिन की थीसिस में जो 'आंशिक गुणात्मक परिवर्तन' करना चाहते हैं उसका नतीजा कुछ अच्छा निकलने वाला नहीं है। हम आशंकित हैं कि कहीं ये छोटे मियां भी उसी राह के राही तो नहीं हैं जिसमें क्रांतिकारी आंदोलन के एक बड़े मियां पहले से अग्रसर हैं।

'दायित्वबोध' के सम्पादकगण न केवल किसी प्रक्रिया के दोनों पहलूओं को नजरंअदाज कर रहे है बल्कि किसी प्रक्रिया के प्रधान और गौण पहलू को भी बुरी तरह एक दूसरे में उलझा देते हैं। यही कारण है कि वे साम्राज्यवाद जो कि देशी पूंजीपति वर्ग के कंधे पर सवार हो के आ रहा है, के कारण 'उत्पादन

शक्तियों का विकास' तो देखते है परन्तु विनाश को नहीं। यह समझने में तो वे कतई अक्षम सिद्ध होते है कि इनमें से आज प्रधान कौन सा पहलू है और गौण कौन सा।

'दायित्वबोध' के सम्पादक अपने लेख में भारतीय पूंजीपति वर्ग के साम्राज्यवाद के साथ के अन्तरविरोध की कहीं कोई चर्चा नहीं करते है। चर्चा के अभाव के कारण इस अन्तरविरोध के चरित्र पर किसी टिप्पणी की उम्मीद और भी मुश्किल है। साम्राज्यवादियों और भारत के पूंजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध दुश्मनाना प्रकृति का है कि दोस्ताना प्रकृति का है। दुश्मनाना है तो इसमें कौन हावी है और यदि दोस्ताना है तो कलह का पक्ष हावी है कि सांठ-गांठ का। कुल मिलाकर यही स्थिति साम्राज्यवाद के भारतीय जनता के साथ के अंतर्विरोध के संदर्भ में भी है। साम्राज्यवाद और भारतीय जनता का अन्तरविरोध साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद के अन्तरविरोध से स्वतंत्र अन्तरविरोध बनता है। यह दीगर बात हैं कि साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार आज भारत में सामंती वर्ग नहीं बल्कि भारत का शहरी व देहाती पूंजीपति वर्ग बनता है। भारतीय जनता और साम्राज्यवाद के स्वतन्त्र अन्तरविरोध की समझदारी के अभाव के कारण कोई ठोस साम्राज्यवाद विरोधी कार्यभार भी 'दायित्वबोध' नहीं निकाल पाता है। इस लेख में भारत में पूंजीवादी विकास की चर्चा की जाती है तो ऐसा लगता है जैसे भारत में उसी तरह से पूंजीवादी विकास हुआ या हो रहा है जैसे कभी पश्चिम यूरोप के देशों हुआ था।

'बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं' के अति सरलीकृत उदाहरण के द्वारा जो बात सम्प्रेषित करने की कोशिश की जाती है उसका अर्थ केवल यह निकाला गया है कि यह पूंजीवाद की आम गति और नियति है। बड़े से और बड़े उत्पादक पैदा होंगे और छोटे उत्पादक तबाह और बरबाद होकर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा बनेंगे। 'दायित्वबोध' द्वारा प्रस्तुत की जा रही यह प्रस्थापना देखने में ही मार्क्सवादी प्रस्थापना है। शब्द-समूह तो ऐसा लगता है मानों सीधे मार्क्सवादी ग्रन्थों से उठा लिया गया है परन्तु मार्क्सवादी पद्धति को ग्रहण करने का जरा भी प्रयास नहीं किया गया है।

भारतीय समाज में पूंजी की गति अत्यंत जटिलता लिये हुये रही है। मूल गति के साथ कई उपगतियां रही हैं। भारतीय पूंजीवाद की नींव ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लूट और शोषण के गौण उत्पाद के कारण पड़ी है। सत्ता हस्तांतरण के बाद भारतीय पूंजीवाद ने न तो सामन्तवाद से और न ही कभी साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेदन किया। यहां भी अन्ततः रेलगाड़ी ठेलागाड़ी को धकेल कर इतिहास की वस्तु बना देगी। लेकिन आज भी, भारतीय समाज में ठेलागाड़ी और रेलगाड़ी का साथ-साथ अस्तित्वमान होना भारतीय पूंजीवाद की जटिलता की ही अभिव्यक्ति है। ठेलागाड़ी को बनाये रखने में भारतीय पूंजीवादी राज्य की भूमिका भी कम

नहीं रही है। छोटे पैमाने के उत्पादन को इस पूंजीवादी राज्य ने पिछली आधी सदी में अपनी रूग्णता, 'हतवीर्यता' के कारण ही नहीं बल्कि सचेत तौर पर भी बनाकर रखा हुआ है। पूंजीवादी राज्य की इस भूमिका को नवजनवादी क्रांति के मानने वालों की तरह आप भी नजरंदाज कर रहे हैं। इसलिए वे जहां ठेलागाड़ी को देखकर भारतीय समाज को अर्द्धसामंती चित्रित करते हैं वहां ठेलागाड़ी का मौजूद होना आपकी थीसिस में मौजूद विसंगति को उजागर कर देता है। वैसे हमें यह भी याद रखना चाहिये कि पूंजीवाद में छोटे पैमाने का उत्पादन समाप्त ही नहीं होता जाता है बल्कि वह पैदा भी होता रहता है। बड़े पैमाने का उत्पादन पूंजीवाद की चारित्रिक विशेषता है परन्तु ऐसा कोई शुद्ध पूंजीवाद नहीं होता है जिसमें छोटे पैमाने का उत्पादन बिल्कुल न हो। पूंजीवाद में जहां केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया चलती है, पूंजीवाद में छोटे पैमाने के उत्पादन को लगातार बड़े पैमाने का उत्पादन जहां समाप्त करता जाता है वहां कई दफा छोटे पैमाने के उत्पादन के रूप को पूंजीवादी राज्य बनाकर, बचाकर रखता भी है। यहां भी मुख्य प्रक्रिया और गौण प्रक्रिया का फर्क है। मुख्य और गौण प्रक्रिया को न समझने से ऐसी यांत्रिक, सरल रेखीय गति वाली धारणा पैदा होती जो एक तरफ भारत के क्रांतिकारियों को भारतीय समाज के विश्लेषण को अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक समाज के विश्लेषण की ओर ले जाती है तो दूसरी तरफ यह पूंजीवादी विकास के स्वागत और निरर्थक यशोगान की ओर ले जाती है। जहां पहली चिंतन प्रणाली दुश्मनों (धनी किसान, तथाकथित राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग इत्यादि को) दोस्तों की श्रेणी में रखती है वहां दूसरी प्रणाली दोस्तों को (छोटे उत्पादकों, छोटे और मंझोले किसानों) दुश्मनों के खेमे में धकेलती है। पहली प्रणाली को जहां साम्राज्यवाद अपने पूर्ववर्त्ती चरणों के रूप में (यानि कि औपनिवेशिक-नव औपनिवेशिक) ही समझ में आता है वहां दूसरी प्रणाली साम्राज्यवाद के बारे में कई बुनियादी गलतियां और विरोधाभासी तर्कों की ओर जाती है। दिक्कतलब बात यह है कि पहली और दूसरी, दोनों ही प्रणालियों से क्रांतिकारी आंदोलन को नुकसान पहुंच रहा है। पहली प्रणाली के कारण जहां जड़सूत्रवाद पैदा हो रहा है वहां दूसरी कुछ नयी, अनूठी बातें कहने के चक्कर में मार्क्सवाद की बुनियादी प्रणाली को त्याग कर किस्म-किस्म के भ्रम खड़े कर रही है। 'दायित्वबोध' की दिक्कत यह है कि क्रांतिकारी आंदोलन के एक हिस्से पर अनावश्यक तोहमत लगाकर वह सही आलोचना की पद्धति का पालन नहीं कर रहे हैं। खुद इनकी हालत यह है कि ये समीर अमीन, प्रभात पटनायक, 'मंथली रिव्यू' वालों की पूंछ के कुछ झड़े हुए बालों तथा कुछ बाल उनकी पूंछ से नोचकर अपने गलमुच्छे बना रहे हैं। गलमुच्छे बनाने तक ही रुक जाते तो भी गनीमत होती। ये तो अपने इन बड़े-बड़े घुमावदार गुलमुच्छों को सहलाते हुए, इतराते हुए फिर रहे हैं।

इस हिस्से को समाप्त करने से पहले कुछ बातें दोहरा ली जायें।

पहली, मार्क्स ने अनाज कानूनों को खत्म किये जाने का समर्थन इसलिए किया था कि यह कानून उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक था। इसके साथ अनाज कानून का समाप्त होना इंग्लैण्ड में अभिजात वर्ग पर औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की निर्णायक विजय का परिचायक था। औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के साथ मार्क्स की पक्षधरता नहीं थी बल्कि उनका तर्क यह था कि उत्पादक शक्तियों का विकास सर्वहारा वर्ग के दूरगामी हित में था।

दूसरी, मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद दोनों में ही उत्पादन शक्तियों का विकास हो सकता है। मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद दोनों ही नीतियां 'स्वतंत्र प्रतियोगिता' वाले पूंजीवाद तथा एकाधिकारी पूंजीवाद में विभिन्न देशों के शासक वर्ग समय-समय पर अपनाते रहे हैं। मुक्त व्यापार और संरक्षणवाद अपनी-अपनी बारी में एक-दूसरे को पैदा करते रहे हैं।

तीसरी, साम्राज्यवाद ह्रासोन्मुख पूंजीवाद है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युग में पूंजीवाद का विकास तीव्र गति से नहीं होता। विकास तो होता है परन्तु अधिकाधिक असमान तथा ह्रास उन देशों के रूप में अधिक अभिव्यक्त होता है जो उत्पादक शक्तियों के विकास के हिसाब से अधिक उन्नत अवस्था में होते हैं।

चौथी, भारत में वर्तमान साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के चरण के दो पहलू हैं। पहला पहलू देशी-विदेशी पूंजी के द्वारा सर्वहारा तथा अन्य मेहनतकशों के निर्मम शोषण व प्राकृतिक संसाधनों की जबरदस्त लूट को दर्शाता है तो दूसरा पहलू उत्पादक शाक्तियों के विकास को दर्शाता है। पहला पहलू जहां प्रधान हैं वहां दूसरा पहलू गौण है। केवल दूसरे पहलू–गौण पहलू–के आधार पर वैश्वीकरण के वर्तमान चरण का गुणगान नहीं किया जा सकता है।

II

अब हम छोटे किसान के सवाल को लेते हैं। 'दायित्वबोध' छोटे किसानों के बारे में सर्वहारा संगठनों की क्या नीति होनी चाहिए के बारे में बुरी तरह से भ्रम का शिकार है। कहीं वह छोटे किसानों की तबाही को गहरी चिंता का विषय बताता है तो कहीं वह उनके फौरी, रोजमर्रा के संघर्षों को दूरगामी संघर्ष की कड़ी बनाने की बात करता है तो कहीं लाभकारी मूल्य जैसी मांग को घनघोर प्रतिक्रियावादी बताता हैं। एक ही डण्डे से हांकता है कि सभी कुलकों, मंझोले और छोटे किसानों को तबाह

हो जाना है इसलिए पूंजीवाद की इस अपरिहार्य नियति से छोटे और मझोले किसानों को परिचित कराना होना चाहिए और कहता है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को उन्हें नरोदवादी कल्पनालोक की सैर नहीं करानी चाहिए। छोटे और मंझोले किसानों की परिभाषा और सर्वहारा के साथ उसके सम्बंधों को लेकर जबरदस्त उलझाव पूरे लेख में मौजूद है। 'नकली पांडित्य की बहुलता' के चलते 'दायित्वबोध' के सम्पादकगण मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन के ग्रंथों से ये तो खोज लाये कि किसानों के संदर्भ में क्या-क्या कहा गया है परन्तु किसानों के विभिन्न संस्तरों में क्या फर्क है और उनमें से हर एक के साथ कम्युनिस्ट पार्टी को क्या नीति अपनानी चाहिए, यह बात वे समझ ही नहीं पाये। क्रांति की मंजिल के फर्क को सही ढंग से न समझने के कारण वे इस बात को नहीं रख पाये कि ऐसे क्या जनवादी कार्यभार बनते हैं जिनका समाधान भारत में समाजवादी क्रांति करेगी। समाजवादी क्रांति का लाभ छोटे किसानों को क्या मिलेगा। जब तक तक यह सुस्पष्ट ढंग से उनके सम्मुख नहीं रखा जायेगा तो वह क्यों कर क्रांति के समर्थक और योद्धा बनेंगे। छोटा उत्पादक का विशाल समूह मात्र इस दलील के साथ कि उसकी पूंजीवाद में तबाही-बर्बादी सुनिश्चित है इसलिए उसे सर्वहारा के साथ समाजवाद के लिए चलने वाली लड़ाई में आ जाना चाहिये से ही तो नहीं आ जायेगा। कोई भी वर्ग अपनी वर्गीय मांगों को तिलांजलि देकर दूसरे वर्ग की लड़ाई का झण्डा नहीं उठा सकता। आपकी तरह की सोच कम से कम किसी मार्क्सवादी शिक्षक की नहीं रही है। आगे के पृष्ठों में यह साफ हो जायेगा कि एंगेल्स और लेनिन यहां किसी किस्म की यांत्रिकता या हिरावलवाद के शिकार नहीं हैं। पाठकों की सुविधा के लिए हम एक बार फिर वही तरीका अपना रहे हैं। पहले 'दायित्वबोध' को उद्धृत करेंगे फिर मार्क्सवादी शिक्षकों के ग्रन्थों से सही बोध को प्राप्त करने की कोशिश करेंगे।

'दायित्वबोध' के सम्पादकगण लिखते है:

> " जहां तक **छोटे और मंझोले मालिक किसान का पक्ष है**, उसका **चरित्र मुख्यतः उजरती मजदूर के शोषक का नहीं होता।** पूंजी की मार से तबाह होकर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा की कतारों में शामिल होना उसकी नियति होती है। अतः सर्वहारा आबादी के इस स्वाभाविक संश्रयकारी की तबाही जाहिरा तौर पर **कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की चिंता और सरोकार का विषय होती** है। पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी **का काम छोटे-मंझोले किसानों को नरोदवादी कल्पनालोक की सैर कराने के बजाय, फौरी तौर पर राज्य** से **उनकी आर्थिक-राजनीतिक मांगों का समर्थन** करने के **साथ**-साथ उन्हें **यह बताना होता है कि पूंजीवादी व्यवस्था** में **उनकी तबाही होनी** ही है **और यह कि उनके सामने एकमात्र रास्ता यही** है कि वे **उजरती गुलामों के साथ खड़े** होकर **पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष के साझीदार बनें**। वस्तुगत तौर पर देंखे तो कृषि क्षेत्र के

छोटे माल-उत्पादकों की तबाही गांवों में वर्गों के ध्रुवीकरण को तेज कर देती है और क्रांतिकारी संघर्ष में जन पक्ष के वर्गों की लामबंदी को आसान कर देती है। हमारा काम इस प्रक्रिया को रोकने की हवाई कोशिशें करना, या इसकी गति को मद्धम करना नहीं बल्कि **मध्यम किसानों के कल्पनालोक** को छिन्न-भिन्न करना होना चाहिये। हमें उन्हें यह बताना होगा कि लाभकारी मूल्य, राजकीय सब्सिडी या यहां तक कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जमीन के राष्ट्रीकरण व सहकारी खेती आदि तक से भी लाभ सिर्फ बड़े पूंजीवादी किसानों को ही पहुंच सकता है।" (पेज 179-180, वही, जोर हमारा)

" मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन के लेखों में सैकड़ों जगह यह चर्चा आती है जिसके आधार पर यह नतीजा आसानी से निकाला जा सकता है कि मध्यम किसानों (या छोटे मालिक किसानों) की तबाही के प्रति कम्युनिस्टों का सरोकार किस रूप में बनना चाहिए और क्यों लाभकारी मूल्य की मांग के पक्ष में किसी भी रूप में खड़ा होना, उजरत कमाने वाले बहुसंख्य आबादी के सीधे विरोध में जा खड़ा होना है।" (पेज-182, वही, जोर हमारा)

'दायित्वबोध' के सम्पादकों के उपरोक्त उद्धरणों से एक बात तो साफ है कि उन्हें छोटे किसान और मझोले किसान का कम से कम भारत के संदर्भ में अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसलिए बेचारे अपनी इस कमी को वाक् जाल से पूरी करते है और नाहक ही मार्क्सवादी शिक्षकों की आड़ में अपने को छिपाने की कोशिश करते हैं। इस लेख में एंगेल्स की जिस कृति का हवाला दिया गया है वो छोटे किसानों के संदर्भ में यह कहती है,

" तब फिर छोटे किसानों के प्रति हमारा क्या रूख हो? सत्तारूढ़ होने के दिन हमें उनके साथ किस तरह पेश आना होगा?

" पहले, फ्रांसीसी कार्यक्रम का निम्नांकित कथन **बिलकुल सही** है: हम पहले से जानते है कि **छोटे किसानों का विनाश अवश्यम्भावी** है, पर **हमारा यह काम नहीं कि अपनी ओर से किसी तरह का हस्तक्षेप करके उस दिन को नजदीक लायें।**

" दूसरे, यह भी उतना ही स्पष्ट है कि जब हमारे हाथों में राज्यसत्ता आयेगी, तब **हम बलपूर्वक छोटे किसानों की** सम्पत्ति (बा-मुआवजा या **बिला मुआवजा**) **छीनने** की–जो काम हमें बड़े जमींदारों के मामले में करना पड़ेगा–बात भी **नहीं** सोचेंगे। छोटे किसानों के सम्बंध में हमारा कार्य प्रथमतः उनके निजी उद्यम और निजी स्वामित्व को सहकारी उद्यम और स्वामित्व में अंतरित करना होगा, और यह बलपूर्वक नहीं, बल्कि उदाहरण पेश करके तथा सामाजिक सहायता

देकर किया जायेगा। कहने की जरूरत नहीं कि उस समय छोटे किसानों को ऐसे भावी लाभ, जो उन्हें आज भी स्पष्ट होंगे, दिखाने के हमारे पास प्रचुर साधन होंगे।...

" छोटी जोत वाले किसानों को हम **न तो आज और न ही भविष्य में** कभी यह आश्वासन दे सकते हैं कि **पूंजीवादी उत्पादन की प्रचण्ड शक्ति से उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति** और **उनके व्यक्तिगत उद्यम** की रक्षा की जा सकती है। हम उन्हें **इतना ही आश्वासन दे सकते है** कि **हम बलपूर्वक, उनकी इच्छा के विरूद्ध** उनके स्वामित्व सम्बंधों में **हस्तक्षेप नहीं** करेंगे। इसके अलावा हम इस बात की हिमायत कर सकते हैं कि आइन्दा छोटे किसानों के विरूद्ध पूंजीपतियों और बड़े जमींदारों का संघर्ष अनुचित साधनों का कम से कम इस्तेमाल करते हुए चले और सीधे-सीधे की जाने वाली लूट-खसोट और ठगी, जो आजकल धड़ल्ले से चलती है, जहां तक सम्भव हो, बंद हो जाये। अपने इस आग्रह में हम कुछ ही मामलों में, जो अपवादस्वरूप ही होंगे, सफल हो सकते हैं। विकसित पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में यह कोई भी नहीं बता सकता कि ईमानदारी और ठगी की सीमारेखा कहां पर है। पर इससे अवश्य बहुत बड़ा फर्क पड़ेगा कि राजनीतिक सत्ता किसके पक्ष में है-ठगे जाने वालों के पक्ष में, या ठगने वालों के पक्ष में। **कहने की जरूरत नहीं कि हम निश्चित रूप से छोटे किसान के पक्ष में हैं, उसकी हालत को अधिक सह्य बनाने के लिए,** यदि वह सहकारी रूप से खेती करने का निर्णय करता है, तो उसके लिए यह संक्रमण सहज और सुविधापूर्ण बनाने के लिए, यहां तक कि ऐसा निर्णय करने में उसके असमर्थ होने की सूरत में उसे इस मामले में गौर करने का वक्त देने के ख्याल से उसे एक लम्बे अरसे तक अपनी जोत पर काबिज रहने देने के लिए भी वह सब कुछ करेंगे जो सम्भव है। हम यह सिर्फ इसलिए नहीं करेंगे कि छोटे किसान को जो अपना काम आप करता है, हम कार्यतः अपना समझते हैं, बल्कि इसलिए भी कि यह पार्टी के प्रत्यक्ष हित में है। सर्वहारा की पांतों में जबरन ढकेले जाने से हम जितने अधिक किसानों को बचा सकें, उतनी ही जल्दी और आसानी से सामाजिक तख्तापलट सम्पन्न होगा । इस काया पलट का तब तक टालने से, जब तक कि पूंजीवादी उत्पादन सर्वत्र अपनी चरम परिणति पर न पहुंच जाय और हर छोटा दस्तकार और हर छोटा किसान बड़े पैमाने के पूंजीवादी उत्पादन का शिकार न बन जाये, हमारा कोई हितसाधन नहीं होगा।" (फ्रेडरिक एंगेल्स,'फ्रांस और जर्मनी में किसानों का सवाल', पृष्ठ 381-384, खण्ड-3,भाग-2,जोर हमारा)

एंगेल्स इस कृति में खेतीहर मजदूर, छोटे किसान, मंझोले और बड़े किसान पर पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के कारण पड़ने वाले प्रभाव का सटीक ढंग से वर्णन करते हैं और कहीं भी वे छोटे किसान के प्रति

वह रूख प्रदर्शित नहीं करते जिसका कि 'दायित्वबोध' दावा करता हैं। एंगेल्स छोटे किसान के संदर्भ में अपनायी जाने वाली नीति के संदर्भ में साफ तौर पर कहते हैं कि ऐसी नीति अपनाने की एक वजह पार्टी के अपने हित हैं। एंगेल्स इस कृति में कहीं भी छोटे किसान, मंझोले किसान और बड़े किसान में किसी भी किस्म का कोई घालमेल नहीं करते हैं।

'दायित्वबोध' की समझ का दिवालियापन उस समय एकदम से उजागर हो जाता है जब वह एक ही पैराग्राफ में यह बात कहता है कि छोटे किसान और मंझोले किसानों की आर्थिक-राजनीतिक मांग का फौरी तौर पर समर्थन किया जाना चाहिए तथा उसके बाद लाभकारी मूल्य, राजकीय सब्सिडी (ये क्या उसकी आर्थिक मांगें नहीं हैं) को बड़े पूंजीपति किसानों की मागें बता कर प्रतिक्रियावादी घोषित कर देता है।

समाजवादी क्रांति के संदर्भ में यह बात याद रखनी की है कि छोटे किसान क्रांति के फौरी रिजर्व हैं जबकि मंझोले किसान व निम्न पूंजीपति वर्ग के अन्य सदस्य क्रांति के ढुलमुल दोस्त हैं। इसलिए छोटे किसानों के बारे में सर्वहारा पार्टी की वही नीति नहीं हो सकती जो कि मंझोले किसानों व निम्न पूंजीपति वर्ग के बारे में होगी। सर्वहारा संगठन को छोटे किसान और मंझोले किसान के बारे में अलग-अलग नीति बनानी होगी। किसी किस्म का भ्रम न पैदा हो इसके लिए हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि छोटे किसानों की श्रेणी को सर्वहारा या अर्ध सर्वहारा की श्रेणी से नहीं उलझाया जाना चाहिये। मंझोले किसान के विपरीत छोटे किसान कभी भी, किसी का (मजदूर या अर्द्ध सर्वहारा) भी शोषण नहीं करते और अपनी मेहनत से ही अपनी गुजर-बसर करते हैं।

छोटे किसान सर्वहारा के भरोसेमंद मित्र हैं। सर्वहारा क्रांति उनके लिए बेहद फायदेमंद हैं। सर्वहारा क्रांति उन्हें औद्योगिक-व्यापारिक पूंजीपतियों द्वारा नियंत्रित बाजार के शोषण व इजारेदाराना स्थितियों में गैर बराबरी पर विनिमेय से मुक्ति दिलायेगी। कर्जों से मुक्त करायेगी तथा ब्याजमुक्त ऋण उपलब्ध कराने से लेकर तमाम किस्म की सुविधायें मुहैया करायेगी। ये बातें ही उन्हें क्रांति की ओर लायेंगी। क्रांति के बाद छोटे किसानों के बीच क्रांतिकारी प्रचार करते हुए उदाहरण की शक्ति के द्वारा, उनकी खेती को सहकारीकरण-सामूहिकीकरण-समाजीकरण की ओर बढ़ाया जायेगा।

इस सवाल पर सही दृष्टिकोण कायम करने के लिए यह आवश्यक है कि हम लेनिन के दिखाये रास्ते पर चलें। तीसरे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में लेनिन ने 'कृषि प्रश्न पर थीसिस का आरंभिक मसविदा' पेश किया था। जिसे कुछ मामूली फेरबदल के साथ इस कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था। लेनिन का मसविदा कहता है,

" 1- केवल शहरी और औद्योगिक सर्वहारा ही कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में देहात के मेहनतकश जनसाधारण को पूंजी तथा बड़े भू-स्वामित्व के जुए से, तबाही-बर्बादी और उन साम्राज्यवादी युद्धों से मुक्त कर सकता है, जिनका पूंजीवादी व्यवस्था के बने रहने पर बार-बार भड़क उठना अपरिहार्य है। देहात के मेहनतकश जनसाधारण के लिए कम्युनिस्ट सर्वहारा के साथ संघबद्धता के अलावा, जमीदारों (बड़े भू-स्वामियों) तथा बुर्जुआ जनों के जुए को उतार फेंकने के वास्ते सर्वहारा के क्रांतिकारी संघर्ष का निष्ठापूर्वक समर्थन के अलावा निस्तार का कोई और मार्ग नहीं है।...

" सर्वहारा वर्ग वस्तुतः क्रांतिकारी, वस्तुतः समाजवादी ढंग से काम करने वाला वर्ग केवल उसी सूरत में होता है, जब वह समस्त मेहनतकशों तथा शोषितों के हरावल के रूप में, शोषकों का तख्ता उलटने के लिए संघर्ष में उनके नेता के रूप में सामने आता है और काम करता है; परन्तु यह काम वर्ग संघर्ष देहात में पहुंचाये बिना, देहात के मेहनतकश जनसाधारण को शहरी सर्वहारा वर्ग की कम्युनिस्ट पार्टी के इर्द-गिर्द ऐक्यवद्ध किये बिना, सर्वहारा वर्ग द्वारा देहाती मेहनतकशों को शिक्षित-दीक्षित किये बिना पूरा नहीं हो सकता।

" 2- देहात के मेहनतकश तथा शोषित जनसाधारण का, जिन्हें शहरी सर्वहारा वर्ग को संघर्ष के मैदान में उतारना चाहिए या किसी भी सूरत में उन्हें अपने पक्ष में लाना चाहिए, समस्त पूंजीवादी देशों में निम्नलिखित वर्ग प्रतिनिधित्व करते हैं :

" पहला, खेतीहर सर्वहारा, उजरती मजदूर (वार्षिक, मियादी या दिहाड़ीदार) जो पूंजीवादी कृषि उद्यमों में उजरत पर काम करके अपनी आजीविका कमाते है। देहाती आबादी के दूसरे ग्रुपों से अलग, स्वतंत्र रूप में इस वर्ग का संगठन (राजनीतिक, सैनिक, ट्रेड-यूनियन, सहकारी, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि), इस वर्ग के बीच जोरदार प्रचार तथा आंदोलन, सोवियत सत्ता तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व के लिए उसके समर्थन की प्राप्ति समस्त देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों का ***आधारभूत*** कार्यभार है।

" दूसरा, अर्ध-सर्वहारा अथवा छोटे-छोटे खेत जोतने वाले किसान यानी वे, जो अपनी आजीविका अंशतः कृषि तथा औद्योगिक पूंजीवादी उद्यमों में उजरती मजदूरों के रूप में तथा अंशतः निजी खेतों पर या लगान पर हासिल खेतों पर काम करके कमाते हैं, जो उनके परिवारों के लिए भोजन की वस्तुओं का केवल एक अंश मुहैया कराते हैं। देहात की मेहनतकश आबादी का यह ग्रुप समस्त पूंजीवादी देशों में अत्यधिक बहुसंख्य है, उसके अस्तित्व तथा उसकी विशेष स्थिति पर बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधि और दूसरे इण्टरनेशनल के पीले "समाजवादी" पर्दा डालते हैं, अंशतः

मजदूरों को जानबूझ कर धोखा देकर और अंशतः टुटपुंजिया विचारों की लीक पर चलकर और इस ग्रुप को सामान्यतया "किसान समुदाय" के साथ गड्ड-मड्ड कर। मजदूरों को झांसा देने की यह बुर्जुआ विधि सबसे ज्यादा जर्मनी, फ्रांस में और उसके बाद अमरीका तथा दूसरे देशों में भी देखने को मिलती है। यदि कम्युनिस्ट पार्टी का कार्य ठीक तरह संगठित किया जाये, तो यह ग्रुप उसका सुनिश्चित पक्षधर बन जायेगा, इसलिए कि इन अर्द्ध सर्वहाराओं की स्थिति बहुत विषम है और उन्हें सोवियत सत्ता तथा सर्वहारा अधिनायकत्व से जबर्दस्त तथा तत्काल लाभ होगा।

" तीसरा, **छोटा किसान समुदाय**, याने छोटे काश्तकार, जो या तो खुद ऐसी छोटी जोतों के मालिक होते हैं या लगान पर ऐसी थोड़ी-सी जमीन लेते हैं, जिनसे वे अपने परिवारों तथा अपने फार्मों की जरूरतें और बाहरी श्रम को उजरत पर नहीं रखते। इस श्रेणी को श्रेणी के नाते सर्वहारा की विजय से असंदिग्ध रूप से लाभ होता है, जो उसे पूरी तरह और तुरन्त ये चीजें प्रदान करती हैः (क) बड़े जमींदारों को लगान या फसल का एक हिस्सा चुकाने की आवश्यकता से मुक्ति (उदाहरण के लिए फ्रांस में और साथ ही इटली तथा अन्य देशों में Metayers, बंटाईदार); (ख) बंधक ऋणों से मुक्ति, (ग) बड़े जमींदारों द्वारा उत्पीड़न उन पर निर्भरता के बहुसंख्य रूपों से मुक्ति (वन्य भूमि, उसका उपयोग, आदि), (घ) सर्वहारा राज्य-सत्ता की ओर से उनके फार्मों को तत्काल सहायता (खेती के औजारों तथा सर्वहारा वर्ग द्वारा जब्त किये गये बड़े पूंजीवादी फार्मों पर इमारतों के एक भाग का उपयोग, देहाती सहकारी सोसायटियों और कृषि एसोसियेशनों का ऐसे संगठनों से, जो पूंजीवाद के अंतर्गत सर्वाधिक अमीर और मंझोले किसानों की सेवा करते थे, सर्वहारा राज्य-सत्ता द्वारा ऐसे संगठनों में तत्काल रूपांतरण जो प्रथमतया गरीबों, यानी सर्वहाराओं, अर्द्ध सर्वहाराओं, छोटे किसानों, आदि की सहायता करेंगे), तथा बहुत सी अन्य चीजें।

" साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि पूंजीवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण की अवधि में, याने सर्वहारा अधिनाकत्व के दौरान यह श्रेणी अथवा बहरसूरत उसका एक अंश व्यापार की निर्बाध स्वतंत्रता तथा निजी संपत्ति के अधिकारों के स्वतंत्र उपभोग की ओर अनिवार्यतः लुढ़कता रहेगा, इसलिए कि यह श्रेणी, जो (भले ही अल्पमात्रा में) उपभोग की वस्तुओं का विक्रेता है, मुनाफाखोरी और मिल्की की आदतों से पहले ही भ्रष्ट हो चुकी है। परन्तु सुदृढ़ सर्वहारा नीति का पालन किये जाने पर, **बड़े जमींदारों और बड़े किसानों का विजयी सर्वहारा वर्ग द्वारा निर्णायक रूप से सफाया किये जाने पर इस श्रेणी का ढुलमुलपन उल्लेखनीय नहीं होगा और इस तथ्य को नहीं बदल सकता कि कुल मिलाकर वह सर्वहारा क्रांति के पक्ष में होगी।**

3- एक साथ लिये जाने पर उपरोक्त तीन ग्रुप समस्त पूंजीवादी देशों में देहाती आबादी की बहुसंख्या है। इसी कारण केवल नगरों में ही नहीं, अपितु देहातों में भी सर्वहारा क्रांति की सफलता पूरी तरह सुनिश्चित है। इससे विपरीत मत व्यापक रूप में प्रचलित है, परंतु वह मात्र इस कारण कायम है कि पहले तो बुर्जुआ विज्ञान और सांख्यिकी व्यवस्थित रूप से धोखाधड़ी करते हैं, जो देहात में उपरोक्त वर्गों तथा शोषकों, जमींदारों और पूंजीपतियों के बीच तथा उसी तरह, एक ओर, अर्द्ध सर्वहाराओं और छोटे किसानों तथा, दूसरी ओर, बड़े किसानों के बीच गहरी खाई पर सारे साधनों से पर्दा डालते हैं; दूसरे, यह विपरीत मत देहात के गरीबों के बीच प्रचार, आंदोलन और संगठनात्मकता का वास्तविक सर्वहारा क्रांतिकारी कार्य करने की पीले, दूसरे इण्टरनेशनल के सूरमाओं तथा अग्रगामी देशों में साम्राज्यवादी विशेषाधिकारों से भ्रष्ट हो चुके "मजदूर अभिजात वर्ग" की अयोग्यता तथा अनिच्छा के कारण कायम है, अवसरवादियों का सारा ध्यान बड़े तथा मंझोले किसानों (जिनके बारे में आगे चर्चा की जा रही है) समेत बुर्जुआ वर्ग के साथ सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक समझौते गढ़ने पर केन्द्रित रहा है और अब भी केन्द्रित है, न कि सर्वहारा वर्ग द्वारा बुर्जुआ सरकार तथा बुर्जुआ वर्ग का क्रांतिकारी ढंग से तख्ता उलटने पर, तीसरे, यह विपरीत मत उस सत्य को, जिसे मार्क्सवादी सिद्धांत पूरी तरह सिद्ध कर चुका है और जिसकी रूस में सर्वहारा क्रांति का अनुभव पूरी तरह पुष्टि कर चुका है, न मानने के हठ के, पूर्वाग्रह की हद तक हठ (तमाम अन्य बुर्जुआ-जनवादी तथा संसदीय पूर्वाग्रहों से संबंधित) के कारण प्रचलित है, यानी इस सत्य को न समझने के हठ के कारण कि देहाती आबादी के तीनों उपरोक्त वर्गों को, जो समस्त देशों में, सबसे अग्रगामी देशों तक में अविश्वसनीय रूप में पददलित, अऐक्यबद्ध हैं, कुचले हुए हैं, जिनके नसीब में अर्द्धबर्बर जीवन बिताना लिखा हुआ है, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समाजवाद की विजय में दिलचस्पी है, वे क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता हासिल किये जाने *के बाद ही,* उस द्वारा बड़े जमींदारों तथा पूंजीपतियों का निर्णायक ढंग से सफाया किये जाने *के बाद ही,* इन पद्दलित लोगों द्वारा *व्यवहार* में यह देखे जाने *के बाद ही* उनके पास सुसंगठित नेता तथा पैरवीकार है, जो उन्हें सहायता देने और उनका नेतृत्व करने, उन्हें सही मार्ग दिखाने के लिए काफी शक्तिशाली तथा दृढ़ है, क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग को सुदृढ़ समर्थन देने में समर्थ होते हैं।

"4- आर्थिक अर्थ में **"मंझोले किसानों" को ऐसे छोटे काश्तकार समझा जाना चाहिए, जिनके पास मिल्की या असामी होने के नाते छोटे ही खेत होते हैं, परंतु फिर भी जिनसे, एक तो, पूंजीवाद के अंतर्गत, नियमतः परिवार का न केवल मामूली गुजर-बसर होता है** और न **केवल घर-गृहस्थी चलती है,** अपितु जिनसे निश्चित मात्रा में बेशी उत्पाद की प्राप्ति

की संभावना भी मिलती है, जिसे कम से कम अच्छे वर्षों में पूंजी में परिवर्तित किया जा सकता हैं, दूसरे, जो बहुत अक्सर (उदाहरण के लिए, दो या तीन घर-गृहस्थियों में से एक) बाहरी श्रम-शक्ति को उजरत पर रखते हैं।

" क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग इस श्रेणी को अपनी ओर लाने का कार्यभार-कम से कम निकट भविष्य में या सर्वहारा अधिनायकत्व की आरंभिक अवधि में–अपने सामने नहीं रख सकता, अपितु उसे तटस्थ बनाने के, यानी सर्वहारा वर्ग तथा बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष में तटस्थ बनाने के कार्यभार तक अपने को सीमित करना चाहिए। यह श्रेणी इन दो शक्तियों के बीच अनिवार्यतः ढुलमुल रहती है और नये युग के आंरभ मे विकसित पूंजीवादी देशों में उसका रूझान मुख्यतया बुर्जुआ वर्ग की ओर रहेगा। इसलिए कि संपत्तिधारियों का विश्वदृष्टिकोण और मनोवृत्ति इस श्रेणी में प्रचलित रहते हैं, जिसकी मुनाफाखोरी, व्यापार की "स्वतंत्रता" तथा संपत्ति में प्रत्यक्ष दिलचस्पी होती है; उजरती मजदूरों के प्रति उसका वैर-भाव प्रत्यक्ष होता है। लगान तथा बंधक-ऋणों को खत्म कर विजयी सर्वहारा वर्ग इस श्रेणी की हालत को तत्काल सुधारेगा। परंतु अधिकांश पूंजीवादी देशों में सर्वहारा सत्ता को निजी स्वामित्व का तत्काल और पूरी तरह खात्मा नहीं करना चाहिए। बहरहाल वह छोटे और मंझोले किसान समुदाय के लिए इस बात की गारंटी करता है कि उनके छोटे-छोटे खेत उनके पास केवल बरकरार ही नहीं रहेंगे, अपितु उन्हें उस सारे रकबे तक बढ़ा दिया जायेगा, जिसे वे आम तौर पर लगान पर लेतें हैं (लगान का खात्मा)।

" ऐसी कार्यवाइयों को बुर्जुआ वर्ग के विरूद्ध निर्मम संघर्ष के साथ मिलाने से तटस्थीकरण की नीति की सफलता की पूरी गारंटी होती है। सर्वहारा राज्य को बहुत ही सावधानी के साथ, बहुत धीरे-धीरे, उदाहरण की शक्ति से काम लेते हुए, मंझोले किसान पर किसी भी जोर-जबरन के बिना सामूहिक कृषि में संक्रमण करना चाहिए।

(लेनिन, 'कृषि प्रश्न पर थीसिसों का आरंभिक मस्विदा' पृष्ठ-128 से 133, खण्ड -4 (1920-1923), संकलित रचनायें चार खण्डों में, प्र. प्रकाशन मास्को, तीरछे शब्दों में जोर लेनिन का तथा मोटे अक्षरों में जोर हमारा है)

लेनिन तथा कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त नीति ही हमारी नीति हो सकती है। देश-काल परिस्थिति के अनुसार भारत के क्रांतिकारियों को इसे व्यवहारिक रूप देना होगा। यहां लेनिन ने छोटे किसान को साफ तौर पर देहात के मेहनतकश तथा शोषित जनसाधारण के तहत सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा के साथ रखा है। लेनिन छोटे किसानों की दो विशेषतायें, कि वे अपनी जरूरतें आप पूरी करते है अर्थात् अपनी मेहनत पर जीवन बसर करते है तथा वे किसी को उजरत पर नहीं रखते है, बताते हैं। व्यापार

की निर्बाध स्वतंत्रता, निजी संपत्ति के स्वतंत्र उपभोग के प्रति इस वर्ग में मौजूद विचलन की चर्चा करते हुए भी लेनिन इस वर्ग के सम्पूर्ण हिस्से के स्थान पर 'एक अंश' 'अल्प मात्रा' का प्रयोग करते हैं। बड़े जमींदारों और बड़े किसानों के सफाये के बाद यहां तक कहते हैं कि इनका ढुलमुलपन उल्लेखनीय नहीं होगा।

अंत में, इस सवाल पर विचार कर लेना चाहिए कि क्या पूंजीवाद के भीतर छोटे किसानों को अपनी हालत को बेहतर बनाने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहिए। क्या सर्वहारा वर्ग को छोटे किसानों की मांगों का समर्थन नहीं करना चाहिए। क्या सर्वहारा की पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी को छोटे किसानों के हितों का समर्थन नहीं करना चाहिये या उनको संगठित करने में पार्टी को अपनी ऊर्जा नहीं लगानी चाहिए।

पहले सवाल को उसकी तार्किक परिणति तक पहुंचाया जाये। क्या सर्वहारा वर्ग को पूंजीवाद के भीतर अपने हालत बेहतर बनाने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहिये? क्या सर्वहारा को साम्राज्यवाद का विरोध नहीं करना चाहिये? क्या सर्वहारा को बेरोजगारी, छंटनी, 'वी.आर.एस.' इत्यादि का विरोध नहीं करना चाहिए? क्या सर्वहारा को काम के घण्टों में वृद्धि का विरोध नहीं करना चाहिए? क्या सर्वहारा को साप्ताहिक अवकाश नहीं चाहिए? क्या सर्वहारा को उन संस्थानों में जहां मशीनीकरण, आटोमेशन हो रहा हो वहां अपने संघर्ष को इसलिए तिलांजलि दे देनी चाहिए कि क्योंकि उत्पादन शक्तियों का विकास हो रहा है? क्या मजदूर को अपनी मजदूरी के गिरने या गिरते जाने का विरोध नहीं करना चाहिए? क्या सर्वहारा को साम्राज्यवाद का विरोध नहीं करना चाहिये?

तय बात है जैसे ही सवाल को उसकी तार्किक परिणति पर पहुंचाया जायेगा तो 'दायित्वबोध' के सम्पादक रक्षात्मक में मुद्रा ना-ना करने लगेंगे और कहने लगेंगे हमारे कहने का अर्थ यह नहीं है। हमें गलत ढंग से समझा गया है। हमें गलत ढंग से उद्धृत किया जा रहा है। या इसका उल्टा भी हो सकता है कि कुछ भारी-भरकम संस्कृतनिष्ठ शब्दों से हम पर तोहमत की झड़ी लगा दें और जैसे ही हम जबाव दें तो रहस्यमय ढंग से चुप्पी साध लें।

सवाल को हमने जिस तार्किक परिणति तक पहुंचाया है वहीं से इसका जवाव दिया जाय। मजदूर वर्ग को 'दायित्वबोध' की तर्क प्रणाली के अनुसार छंटनी, बेरोजगारी, मशीनीकरण, आटोमेशन, गिरती मजदूरी का विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करके वह उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा उत्पन्न करेगा। ध्रुवीकरण के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करेगा।

उन्नीसवीं सदी में जब मजदूर 'काम के दस घण्टे' की लड़ाई लड़ रहे थे तब पूंजीपतियों ने यही तर्क दिया था कि काम के घण्टे कम हो जाने से उत्पादक शक्तियों का नुकसान होगा। सारी प्रगति रूक जायेगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसके उल्टे काम के घण्टे दस हो जाने के बाद पूंजीपति वर्ग और उसके सेवा करने वाले बुद्धिजीवी-वैज्ञानिक इस बात पर दिमाग लगाने के लिए मजबूर हुए कि कैसे मुनाफे की दर को कायम रखा जाय। कैसे उसे बढ़ाया जाय। इसका नतीजा यह निकला कि उत्पादन की तकनीक में व्यापक सुधार हुए। नई मशीनों के आविष्कार को बल मिला। दस घण्टे की लड़ाई के बाद 'आठ घण्टे की लड़ाई' का भी नतीजा यही निकला कि उसने उत्पादन शक्तियों के विकास में उत्प्रेरण का ही कार्य किया था।

इसी तरह मजदूर अगर अपनी मजदूरी में गिरावट का विरोध करते है तो वह कुछ गलत नहीं कर रहे होते है। वे मात्र इतना कर रहे होते है कि अपने गिरते जीवन स्तर को पुराने स्तर पर बनाये रखना चाहते है। सामाजिक दृष्टि से अपनी पहले की सापेक्ष स्थिति को कायम रखना चाहते हैं। इसी तरह अन्य बातें।

सवाल यहां सही दृष्टिकोण अपनाने का है। सही दृष्टिकोण क्या होना चाहिये। चलिये एक बार फिर मार्क्स के पास चलते हैं। मार्क्स ने 'मजदूरी, दाम और मुनाफा' मे इस तरह के सवालों पर व्यापक चर्चा की है।

मार्क्स कहते हैं,

> " यदि मजदूर अपनी सापेक्ष मजदूरी में घटती का प्रतिरोध करता है तो वह केवल अपनी बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति का थोड़ा-सा और ज्यादा हिस्सा प्राप्त करने की कोशिश करता है और सामाजिक स्तर की दृष्टि से वह अपनी पहली की सापेक्ष स्थिति कायम रखना चाहता है। अनाज आयात विरोधी कानूनों के विरूद्ध आंदोलन के समय दिये गये अपने गम्भीर आश्वासनों का घोर अतिक्रमण कर, अंग्रेज फैक्टरी-मालिकों ने कानूनों को रद्द होने के बाद मजदूरी में आम तौर पर 10 प्रतिशत की कमी कर दी थी। मजदूरों के प्रतिरोध पहले तो निष्फल हुआ, लेकिन बाद में, कुछ परिस्थितियों के कारण जिनका जिक्र यहां नहीं कर सकते, यह 10 प्रतिशत कमी पूरी कर ली गयी।
>
> " ये चन्द बातें यह जाहिर करने के लिए काफी हैं कि आधुनिक उद्योग की प्रगति मजदूर के खिलाफ उत्तरोत्तर पूंजीपति के हित में पांसा पलटती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप पूंजीवादी उत्पादन की आम प्रवृत्ति मजदूरी के औसत स्तर को बढ़ाने के बजाय घटाने या **श्रम के मूल्य** को कमोबेश उसकी **न्यूनतम सीमा** पर पहुंचा देने की होती है। जब इस व्यवस्था में **चीजों की प्रवृत्ति** ही ऐसी होती है, तो क्या इसका मतलब यह है कि मजदूर वर्ग को पूंजी के हमलों का

मुकाबला करना बन्द कर देना चाहिए और मजदूरों को यदा-कदा अपनी हालत, अस्थायी रूप से ही सही, सुधारने का जो अवसर मिलता है उससे उन्हें फायदा न उठाना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे, तो निस्तार की आशाओं से वंचित, गये-गुजरे इंसानों की तरह पतन की चरम अवस्था में पहुंच जायेंगे। ...यदि पूंजी के मुकाबले में अपने प्रतिदिन के संघर्ष में बुजदिली के साथ घुटने टेक दें तो वे कोई बड़ा आंदोलन छेड़ने के काबिल न रहेंगे।

" इसके साथ-साथ, मजूरी की व्यवस्था से जुड़ी हुयी आम गुलामी के अलावा, मजदूर वर्ग को इन रोजमर्रा के संघर्षों के अन्तिम- कार्य परिणाम को बढ़-चढ़ा कर न आंकना चाहिए। मजदूरों को यह न भूलना चाहिए कि वे परिणामों से लड़ रहे हैं, न कि परिणाम के कारणों से; वे पतनशील गति को केवल विलंबित कर रहे हैं, किंतु उसका रूख नहीं बदल रहे हैं, वे उपशामक औषधि का प्रयोग कर रहे हैं, पर रोग नष्ट नहीं कर रहे हैं। अतः मजदूरों को पूंजी के निरंतर अतिक्रमण या बाजार के परिवर्तनों के कारण नित्य पैदा होने वाले अनिवार्य छापेमार संघर्षों में फंस कर न रह जाना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि मौजूदा व्यवस्था उन सब मुसीबतों के बावजूद जो वह मजदूरों पर ढाती है, साथ ही समाज के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक **भौतिक परिस्थितियों** और **सामाजिक रूपों** को उत्पन्न करती है। इसलिए इस **रूढ़िगत मूलमंत्र - 'दिन के माकूल काम की माकूल मजदूरी'।** के बजाय मजदूरों को अपने झंडे पर यह **क्रांतिकारी** नारा लिख देना चाहिए -**''मजदूरी व्यवस्था का अन्त हो''**। (मार्क्स, 'मजदूरी दाम और मुनाफा,' पेज-79-89-90, खण्ड -2 भाग-1, संकलित रचनाएं, तीन खंडों में,प्र.प्र मास्को, जोर मूल में)

स्पष्ट तौर पर यही रोजमर्रा के संघर्षों और दीर्घकालिक संघर्षों के सम्बन्ध में दृष्टिकोण हो सकता है। यदि मजदूर पूंजी के हमलों का मुकाबला नहीं करेंगे तो वे किसी बड़े आंदोलन को छेड़ने के लायक नहीं बचेंगे और दूसरी तरफ यदि वे मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए आगे नहीं आयेंगे तो वे पूंजी की गुलामी से कभी मुक्ति नहीं पा सकते।

दूसरे शब्दों में यहां खतरा एक तरफ अर्थवाद, सुधारवाद में फंस जाने का है तो दूसरी तरफ रोजमर्रा के संघर्षों से किनाराकशी करके वाम लफ्फाजी, निष्क्रिय उग्र परिवर्तनवाद में फंस जाने का है।

जो बात सर्वहारा के आंदोलन के लिए सही है वही छोटे किसानों के लिए भी सही है। छोटे किसान यदि अपनी गिरती हालत के खिलाफ संघर्ष करते हैं तो वे भी अपने जीवन स्तर को बचाना चाहते है, बर्बादी को रोकना चाहते हैं। इस संघर्ष का हम विरोध नहीं कर सकते हैं। सर्वहारा के प्रतिनिधि, कम्युनिस्ट होने के नाते हम उन्हें बताते है कि इस संघर्ष में हम तुम्हारे साथ हैं किन्तु यह संघर्ष जब तक पूंजी की व्यवस्था को

खत्म करने के संघर्ष का एक हिस्सा नहीं बनेगा तब तक तुम्हारी मुक्ति संभव नहीं है। क्योंकि छोटे किसान सर्वहारा क्रांति के मित्र हैं, फौरी रिजर्व हैं इसलिए कम्युनिस्ट अपने इस स्वाभाविक मित्र के प्रति उदासीनता या तटस्थता का भाव नहीं अपना सकते हैं।

■ ■ ■